नारद भक्तिसूत्र

स्वामी वेदान्तानन्द

रामकृष्ण आश्रम
छपरा (बिहार)

प्रकाशक
डॉ० केदारनाथ लाभ
सचिव, रामकृष्ण आश्रम
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा ८४१ ३०१ (बिहार)

आवरण सज्जा
श्री आ० नार्वेकर, हैदराबाद

मुद्रक
तपन प्रिंटिंग प्रेस,
मछुआटोली
पटना-४

वितरक, अद्वैत आश्रम
५, डीही एन्टैली रोड, कलकत्ता-७०० ०१४

प्राप्ति स्थान —
(१) रामकृष्ण आश्रम, छपरा-८४१ ३०१
(२) रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना-८०० ००४

मूल्य १० रुपये

अनुवादक की ओर से

ईश्वर तक पहुँचने के लिए जिन सब साधन-पथों का विधान किया गया है उनमें भक्ति सबसे सहज, सरल और वरेण्य है। स्वभावतः भक्ति की महिमा का अनेक वरिष्ठ साधु-संतों ने उद्‌घोष किया है। स्वयं भगवान् श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे—कलियुग में नारदीय भक्ति ही उपयोगी है।

भक्ति-विषयक जितने ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, उनमें देवर्षि नारदकृत 'भक्ति-सूत्र' का अपना एक विलक्षण और विशिष्ट स्थान है। इसी से प्रायः सभी भक्तों का यह ग्रन्थ हिय-हार बना रहा है।

देवर्षि नारद द्वारा जो शास्त्र ग्रन्थ रचे गये, उनमें भक्ति-सूत्र अत्यन्त उपादेय और असाम्प्रदायिक है। मात्र चौरासी सूत्रों के माध्यम से देवर्षि ने भक्तियोग के समस्त अंगों—भक्ति के अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन आदि—का अत्यन्त निपुणतापूर्वक वर्णन किया है।

भगवान् की लीला-पुष्टि के लिए जो आधिकारिक पुरुष युग-युग में आविर्भूत हुए, देवर्षि नारद उनमें अन्यतम है। भारतवासियों के चरित्र-निर्माण में स्मरणातीतकाल से जो महापुरुषगण सहायता करते आये हैं, उनमें इन्हें एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

नारद का चरित्र काल्पनिक है या ऐतिहासिक—ऐतिहासिक होने पर नारद नामधारी कोई एक व्यक्ति थे या अनेक व्यक्ति, कब और कहाँ उन्होंने या उनलोगों ने जन्म-ग्रहण किया था इत्यादि विषयों को लेकर सनातन धर्मावलम्बीगण माथापच्ची नहीं करते। उनका विश्वास है कि नारद के व्यक्तित्व का विनाश नहीं है; विश्व-कल्याण के लिए चारों युगों से वे त्रिभुवन में विचरण करते हैं। महाप्रलय के उपरान्त नव-नव सृष्टिकाल में स्रष्टा की विश्वलीला में सहायता देने के लिए बार-बार उनका आविर्भाव होता है।

रामायण, महाभारत, पुराण आदि में उनके विचित्र जीवन एवं कर्मों का पर्याप्त परिचय मिलता है। ऋषि-मुनियों की सभा में वे विशेष वरणीय हैं।

उनका उपदेश पाकर ही महर्षि वाल्मीकि ने रामायण एव व्यासदेव ने श्रीमद्‌भागवत की रचना की। वे शुकदेव, ध्रुव एव प्रह्लाद के शिक्षा-गुरु थे, देव, दैत्य, मानव, भिक्षुक तथा सम्राट् सबके उपदेष्टा हैं। उनके जीवन की जो घटनाएँ उनके विरोध-प्रिय स्वभाव-सी प्रतीत होती है, गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर, वे सब लोक-कल्याण के साधन के लिए ही हुई, जो उनके जीवन का एक मात्र व्रत था, ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है।

विभिन्न मतो के अनुसार साधना करने पर सभी साधनाएं आन्तरिकता-सम्पन्न साधक को अन्त में एक ही लक्ष्य पर पहुँचा देती हैं—इसे श्रीरामकृष्णदेव अपने जीवन मे दिखा गये हैं। लोकशिक्षा देना ही उनके विभिन्न पथो की साधना का उद्देश्य था। कर्म, योग, ज्ञान और भक्ति—इन सभी पथो के साधक अत मे परमानन्द के अधिकारी होते हैं—यही उनकी शिक्षा है। तथापि उन्होंने यह भी कहा है कि—देह, इन्द्रिय, मन, प्राण इन सबको सर्वतोभावेन वशीभूत कर राजयोग की साधना, अथवा निर्विशेष ब्रह्मानुभूति के लिए अद्वैत वेदान्त की साधना साधारण जीवो के लिए साध्यातीत है। 'स्वार्थ, साध और मान' सबका विसर्जन कर, अहबोध का विलय कर, जीव-जगत् के कल्याण के लिए प्रेमपूर्वक निष्काम कर्म का अनुष्ठान करना भी असाधारण वीर के लिए ही सभव है। और सभी कर्मों का फल ईश्वर को अर्पित कर उनके दास के रूप मे कर्मयोग का अनुष्ठान करना अहैतुकी भक्ति का प्रयोजन होता है। इसी से अन्नगत प्राण वाले साधारण मनुष्यों के लिए श्रीरामकृष्णदेव ने भक्ति-साधना का निर्देश किया है। जिनके पास जितना सम्बल है उसे ही लेकर वे इस पथ मे अग्रसर हो सकते हैं, सकाम भक्त भी साधना के विभिन्न स्तरो का अतिक्रमण कर अहैतुकी अमला भक्ति की प्राप्ति कर धन्य होते हैं।

देवर्षि नारद और उनके द्वारा प्रचारित भक्ति-साधना के सम्बन्ध मे श्रीरामकृष्णदेव ने अनेक व्यक्तियों को विभिन्न अवसरों पर अनेक बातें कही थी। वे नारद को कभी नित्यजीव, कभी आचार्य और कभी लोक-मंगल के लिए ज्ञान-लाभ के बाद भी भक्ति लेकर रहनेवाले कहा करते थे।

विभिन्न दर्शनशास्त्रों के सूत्र ग्रन्थों के सूत्र यथासम्भव स्वल्प पदों के समवाय से अत्यन्त संक्षेप में रचे गये हैं। इसी कारण से परवर्ती काल में एक ही सूत्र ग्रन्थ की व्याख्या को लेकर उनके अनुवर्तियों में मतान्तर उपस्थित हुए हैं एवं विभिन्न मतों के परिपोषक टीका—भाष्यादि की रचनाएँ हुई हैं। नारद-रचित 'भक्ति-सूत्र' इस दिशा में एक विशेष व्यतिक्रम प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ के सभी सूत्र अनुभूति-सम्पन्न महापुरुष के अन्तःस्थल से स्वतः उद्भूत हुए हैं। ये सूत्र संक्षिप्त होने पर भी दुरूह एवं दुर्बोध्य नहीं है। अन्यान्य दर्शनों की भाँति युक्ति-तर्क के द्वारा अपने मत के स्थापन और दूसरों के मत के खण्डन का प्रयास इन सूत्रों में कहीं नहीं देखा जाता। सरल होने के कारण इन सूत्रों के विभिन्न अर्थों की कल्पना करने के लिए भी यहाँ अवकाश नहीं है। स्वभावतः नारदकृत 'भक्ति-सूत्र' सबके समक्ष निःसंशय रूप से एक ही कथ्य एवं तथ्य प्रस्तुत करता है।

रामकृष्ण मिशन के पूज्य स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज द्वारा रचित 'भक्ति प्रसंग' नारदकृत 'भक्ति-सूत्र' का ही बंगला भाषा में प्रस्तुत भाष्य है। इस भाष्य की अपनी विशेषताएँ हैं। इसमें प्रत्येक सूत्र का शब्दशः अर्थ देकर उसका अन्वयार्थ भी दिया गया है। तदुपरान्त प्रत्येक सूत्र की व्याख्या की गयी है। इससे पाठकों को भक्ति-सूत्र को समझने में पर्याप्त सुविधा होती है।

पुस्तक के आरंभ में ही देवर्षि नारद के जीवन-चरित की एक संक्षिप्त किन्तु तथ्यपूर्ण मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गयी है जिसमें देवर्षि नारद के व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों का भव्य उद्घाटन हुआ है। इससे इस ग्रंथ की उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। साथ ही, यथास्थान श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत के उपयुक्त उद्धरण देकर सूत्रों के अर्थ को विशेष रूप से स्पष्ट करने एवं बोधगम्य बनाने की सफल-सार्थक चेष्टा की गयी है। फिर विशेष-विशेष सूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ में पूज्य महाराजजी ने भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के अमृतोपम वचनों के भावपूर्ण एवं हृदयस्पर्शी उत्प्रेरक उद्धरण देकर इस ग्रंथ की उपयोगिता तथा चारुता बढ़ा दी है। वस्तुतः

पाठकों को इस ग्रन्थ के अवलोकन के क्रम में दो महान् आध्यात्मिक विभूतियों के भक्ति-प्रवण हृदयों की समान अनुभूति-सुधा का पान एक साथ ही करने का आनन्द और सौभाग्य प्राप्त हो जाता है।

'भक्ति-प्रसंग' बंगभाषी जनों में पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। अल्पावधि में ही इसके चार संस्करण समाप्त हो गये हैं। हिन्दी में भक्ति-सूत्र के कई भाष्य हैं, किन्तु श्रीरामकृष्णदेव के भावोद्गारों से सवलित एक भी ग्रन्थ अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। स्वभावतः मेरे मन में इस ग्रन्थ की उपादेयता के कारण इसका हिन्दी रूपान्तरण करने की ललक उत्पन्न हुई। मैंने इसकी भाषा सर्वजन सवेद्य रखने की आयत्त चेष्टा की है।

इस ग्रन्थ में श्रीरामकृष्ण की उक्तियों को द्विगुणित उद्धरण-चिह्नों में " " इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। उद्धृत श्लोकों के साथ दिये गये संकेतों का अर्थ इस प्रकार है—

गी = श्रीमद्भगवद्गीता

भा = श्रीमद्भागवत

भगवान श्रीरामकृष्ण की अहैतुकी अनुकम्पा से यह अनुवाद सम्पन्न होकर अब पुस्तक रूप में प्रकाशित हो रहा है। मेरा विश्वास है कि हिन्दीभाषी सरल-चित्त भक्तजनों एवं सामान्य पाठकों में 'भक्ति-प्रसंग' का यह हिन्दी रूपान्तर—'नारदभक्ति-सूत्र'—विशेष प्रियता प्राप्त करेगा तथा उनके हृदय में विमल भक्ति का सम्य-संचार करने में सक्षम हो सकेगा। इति।

अनुवादक
डॉ० केदारनाथ लाभ, डी०लिट्०
रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
राजेन्द्र कॉलेज, छपरा
(बिहार)

२२ सितम्बर, १९८५
भाद्रपद, नवमी, शुक्ल पक्ष,
संवत् २०४२

देवर्षि नारद

पुराण, इतिहास आदि में देवर्षि नारद के विचित्र जीवन की जो सारी कथाएँ वर्णित हुई हैं, उन सबमें से कुछ चित्र नीचे प्रस्तुत किये गये हैं। नारद आधिकारिक पुरुष थे। स्रष्टा की विश्वलीला की परिपुष्टि के लिए युग-युग में उनका आविर्भाव होता है। इन सारी घटनाओं के पौर्वापर्य के निर्णय की चेष्टा व्यर्थ है। कहीं भी उनका जीवन इस रूप में वर्णित नहीं हुआ है। जीव को शिक्षा-दान देना और संसार की विचित्रताओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना, उनके जीवन का व्रत है। प्रथम दृष्टि से उनके जो कार्य द्वन्द्वों और अशान्ति की सृष्टि करनेवाले प्रतीत होते हैं, गंभीर भाव से विचार करने पर, उन सब कार्यों का भी यही एक उद्देश्य देखने में आता है।

नारद सृष्टिकर्त्ता लोकपितामह ब्रह्मा के मानसपुत्रों—दस प्रजापतियों*—में अन्यतम थे। ब्रह्मा ने उन्हें उत्पन्न कर विवाह और सन्तानोत्पादन के द्वारा उन्हें सृष्टि का विस्तार करने का आदेश दिया। किन्तु, उन्होंने विरागी होकर जन्म-ग्रहण किया था। पिता का आदेश उनको मन-पूत नहीं लगा। संसार में बिना बँधकर एकान्तभाव से श्रीहरि की सेवा में अपना जीवन-यापन करने का अभिप्राय उन्होंने अभिव्यक्त किया। पितामह ने क्रुद्ध होकर उन्हें अभिशाप दिया, 'तुम ने, चूँकि मेरे आदेश को अस्वीकार किया है; इसलिए तुम कामुक और स्त्रीजित होकर सुदीर्घ काल व्यतीत करोगे।' इस अभिशाप के द्वारा, लगता है कि पितामह ने यही सीख दी—भोग के बिना त्याग नहीं होता, उपयुक्त गुरु के निकट शिक्षा प्राप्त किये बिना वैराग्य के पथ पर अग्रसर होने में विडम्बित होना पड़ता है।

ब्रह्मा के अभिशाप से नारद ने उपबर्हण नामक गन्धर्व के रूप में जन्म-ग्रहण किया तथा रूप-यौवन से सम्पन्न होकर अनेक अप्सराओं के साथ नृत्य—गीत—वाद्य में प्रमत्त भाव से वे समय व्यतीत करने लगे। एक बार देवताओं

---

*मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष, वशिष्ठ, भृगु और नारद।

के यज्ञ में हरि-कथा-गायन के लिए गन्धर्वों एवं अप्सराओं को आमंत्रित किया गया था। देवों और ऋषियों के समाज में श्रीभगवान का लीलाकीर्तन होगा—यह जानकर भी उपबर्हण अप्सराओं से घिरे हुए लौकिक गीत गाते-गाते सभामण्डल में उपस्थित हुए। उपबर्हण के द्वारा यह अवहेलना देखकर देवताओं ने उन्हें शाप दिया, "चूँकि तुमने रूप-यौवन के मद में उन्मत्त होकर हमलोगों के प्रति अवज्ञा प्रदर्शित की है, इसलिए तुम्हारा सारा सौन्दर्य नष्ट हो जायगा और तुम शीघ्र ही शूद्रत्व प्राप्त करोगे।" इसी शाप के परिणाम से नारद ने एक दासी के पुत्र के रूप में जन्म-ग्रहण किया।

इस नर-जन्म में उनके पिता कौन थे, अथवा उनकी माता का क्या नाम था, इसका कोई विवरण नहीं मिलता। इस जन्म की कथा को उन्होंने व्यास-देव के निकट अपने मुख से वर्णन किया था। वे अपनी माता के एकमात्र पुत्र थे। उनकी माता एक ब्राह्मण के यहाँ दासी का कार्य करती थी। एक बार वर्षा-यापन के लिए उसी ब्राह्मण के घर पर अनेक साधु पुरुषों का आगमन हुआ। नारद की उम्र उस समय पाँच साल की थी। ब्राह्मण ने उक्त बालक को सेवा के लिए नियुक्त किया।

बालक नारद खेलकूद छोड़कर सर्वदा साधुओं का आदेशपालन करने को तत्पर रहते। साधुगण भगवत्प्रसंग करते, नारद उन्हें एकाग्रमन से सुनते। काम के समय उनके घरों में झाड़ू लगाते, जूठे स्थान को साफ करते। दिन में एक बार वे साधुओं के बचे हुए भोजन का प्रसाद ग्रहण करते। साधु-संग और साधु-सेवा के फल से उनके मन की मलिनता दूर हो गयी। श्रीभगवान की कथा सुनते-सुनते भगवान के प्रति बालक का अनुराग उत्पन्न हुआ। चातुर्मास्य-यापन के अन्त में ब्राह्मण का गृहत्याग कर चले जाने के पहले ही साधुगण धीर, स्थिर, संयत, श्रद्धावान् बालक नारद को साधना का उपदेश दे गये। इसके बाद नारद को और अधिक दिन ब्राह्मण के घर में नहीं रहना पड़ा।

अँधेरी रात में ब्राह्मण की गाय दुहने के लिए जाते समय नारद की माँ को रास्ते में साँप ने काट लिया। सर्पाघात से शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो

गयी। माँ की मृत्यु को श्रीभगवान की इच्छा मानकर नारद ने ब्राह्मण का घर छोड़ दिया एवं काफी दूर राह पारकर एक निर्जन वन में प्रवेश किया। वहाँ एकाग्र चित्त से श्रीभगवान के ध्यान में वे रत रहे। बालक भक्त की व्याकुल प्रार्थना से नारायण क्षणभर के लिए उन्हें दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये। वह शोकनाशन मनोभिराम रूप और नहीं देख पाकर बालक की व्याकुलता अत्यधिक बढ़ गयी। ध्यान की सहायता से उस रूप के पुनः दर्शन के लिए उन्होंने काफी चेष्टा की। तब उन्हें सान्त्वना देने के लिए नारायण ने अदृश्य रूप में उपस्थित होकर कहा, 'वत्स, इस जन्म में तुम और दर्शन नहीं पाओगे। साधना के फल से जिन लोगों की काम आदि मन की मलिनताएँ दूर नहीं हुई, उनलोगों के लिए मेरा दर्शनलाभ असम्भव है। तब तुम्हें जो यह एक बार दर्शन दिया उसका कारण है मेरे प्रति तुम्हारी प्रीति उत्पन्न करना। जो व्यक्ति मेरी कामना करता है उसके मन की सारी कामनाएँ—वासनाएँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं। थोड़े दिनों की साधुसेवा के फल से मेरे प्रति तुम्हें जो प्रबल अनुराग उत्पन्न हुआ है, वह नष्ट नहीं होगा। तुम्हारी शूद्र-देह का नाश होने पर दूसरे जन्म में तुम मेरे पार्षद होंगे। सृष्टि या प्रलयकाल में तुम कभी भी मुझे विस्मृत नहीं होओगे।' तदुपरान्त श्रीभगवान के नाम-गुण का कीर्तन करते हुए नारद ने अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

छान्दोग्य उपनिषद् में हम देखते है कि नारद ने सनत्कुमार का शिष्यत्व स्वीकार करे उनसे उपदेश देने के लिए प्रार्थना की थी। शूद्र-देह त्यागने के बाद उन्होंने यह ब्राह्मण का देह-धारण किया या नहीं, यह कौन कहेगा?

नारद ने चारों वेद, इतिहास, पुराण, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि चौसठ विद्याओं का अध्ययन किया था। किन्तु, उनके प्राणों में शान्ति नहीं थी। उन्होंने सुना था कि केवल आत्मज्ञानी व्यक्ति ही शोकरहित होते हैं। किन्तु, उन्हें वह आत्मज्ञान हुआ नहीं। इसी से वे सनत्कुमार के शरणागत हुए थे। सनत्कुमार ने उनके द्वारा पढ़ी गयी विद्याओं का परिचय लेने के बाद कहा, 'तुम शास्त्रों का अर्थमात्र जानते हो। किन्तु, समस्त विद्याओं का चरम लक्ष्य जो आत्मज्ञान है उसको तुमने प्राप्त नहीं किया। केवल पाण्डित्य के द्वारा कोई शोक-सागर के पार नहीं जा पाता है।' इसके बाद सनत्कुमार नारद को

साधना के स्तरों का उपदेश देने लगे। शिष्य को जैसी-जैसी अनुभूति होने लगी, गुरु भी उन्हें वैसी-वैसी उच्चतर स्तर की साधना में अग्रसर कराते गये। अन्त में उन्हें सिखाया सत्य का सर्वतोभाव से आश्रय ग्रहण करने पर विज्ञान-लाभ होता है। यह विज्ञान आता है मनन के द्वारा। मनन होता है श्रद्धा से और श्रद्धा की उत्पत्ति होती है निष्ठा से। निष्ठा एकाग्रता की अपेक्षा रखती है और एकाग्रता सुख सापेक्ष है। सुख के सन्धान में ही जीवों की सारी चेष्टाओं का पर्यवासन होता है। किन्तु, अल्प में सुख नहीं है। भूमा में ही सुख है। आत्मा ही यह भूमा है। आत्मा में ही सब कुछ अवस्थित है। आत्मस्वरूप की उपलब्धि के बाद साधक परमानन्द का अधिकारी होता है।

सनत्कुमार से इस प्रकार की उपदेश-प्राप्ति के फलस्वरूप राग-द्वेष आदि मलिनताओं से रहित होकर नारद अज्ञानान्धकार से सदा के लिए मुक्त हो, सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप की उपलब्धि के फल से धन्य हुए।

स्वायम्भुव मनु के अधिकारकाल के सत्ययुग में भगवान विष्णु धर्म के पुत्ररूप में नर, नारायण, हरि और कृष्ण—इन चार अंशों में अवतीर्ण हुए थे। इनमें नर और नारायण ने बदरिका आश्रम में अवस्थित होकर सुदीर्घ काल तक तपस्या की। देवर्षि नारद ने एक बार उनलोगों के निकट आकर भागवत धर्म की शिक्षा प्राप्त की। उन लोगों से उपदेश लेकर साधना में प्रवृत्त होने के पहले ही नारद द्वारा दिये गये आत्म-परिचय में जो श्रद्धा व्यक्त हुई है वह विशेष रूप से मनन करने के योग्य है। उन्होंने कहा, "मैं सर्वदा गुरुओं की सेवा करता रहता हूँ, दूसरों की गोपनीय बातों को मैं कभी प्रकट नहीं करता, मैं यत्नपूर्वक वेदाध्ययन और तपस्या में रत रहता हूँ, कभी झूठ नहीं बोलता, अन्यायपूर्वक अर्जित धन से उदरपूर्ति, दूसरों के धन का अपहरण, अपवित्र स्थान पर गमन या दूसरों का दान ग्रहण नहीं करता, शत्रु और मित्र सबको मैं समान भाव से देखता हूँ, और, मैं निरन्तर आदि-देव की आराधना में रत हूँ। सारे असत् कर्मों से विरत रहने एवम् सर्वदा सत्कर्मों के अनुष्ठान के फलस्वरूप मेरा चित्त शुद्ध हो गया है। अतएव, मेरे लिए नारायण का दर्शन-लाभ करना नितान्त असम्भव नहीं है।" नर और नारायण ऋषियों से उपदेश-ग्रहण करने के बाद उन्होंने श्वेतद्वीप जाकर

नारायण की आराधना की एवं विश्वरूप का दर्शन कर वे कृतार्थ हुए।

.. .. ..

इसके बाद हम विश्व-कल्याण में निरत लोक-गुरु के रूप में देवर्षि नारद का किंचित् परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे। नारद शब्द का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ है—जो परमात्म विषयक ज्ञान का दान करते हैं (नार परमात्म-विषयकं ज्ञानं ददाति इति नारदः)। ईश्वर-लाभ ही जीवन का उद्देश्य है—यह शिक्षा देते हुए उन्हें हम सर्वदा तत्पर देखेंगे।

प्रजापति ने दक्ष-हर्यश्व नामक पुत्रों को उत्पन्नकर उनलोगों को वंशवृद्धि करने का निर्देश दिया। पिता का आदेश शिरोधार्य कर प्रजावृद्धि के लिए उपयुक्त शक्ति-प्राप्ति के उद्देश्य से वे लोग नारायण सरोवर के तट पर तपस्या में रत हुए। देवर्षि नारद ने वहाँ उपस्थित हो उनलोगों से जीवन के उद्देश्य को समझाने के लिए दस कूट प्रश्न किये। हर्यश्वगण ने इन सारे प्रश्नों के अर्थ पर विचार कर संसार की अनित्यता एवम् ईश्वरलाभ के अतिरिक्त अन्य सारे उद्देश्यों के लिए किये गये कार्यों की तुच्छता का अनुभव किया एवं वंश-विस्तार के संकल्प का परित्याग कर मोक्ष-मार्ग के पथिक हुए। नारद के उपदेश से अपने योग्य पुत्रों के संसार-त्याग की बात सुनकर प्रजापति दक्ष विशेष शोकातुर हो उठे। ब्रह्मा ने उन्हें सान्त्वना प्रदान की। उन्होंने पुनः सबलाश्वगण नामक पुत्रों को जन्म दिया। पिता द्वारा वंश-विस्तार के लिए आदेशित होकर सबलाश्वगण उपयुक्त सामर्थ्य-लाभ के लिए अपने बड़े भाइयों की तरह नारायण सरोवर के तट पर जाकर तपोमग्न हुए। किन्तु सबलाश्व-गण के द्वारा भी प्रजावृद्धि संभव नहीं हुई। नारद ने उनलोगों के भी निकट उपस्थित हो, हर्यश्वगण को जो सारे कूट प्रश्न किये थे, वे ही सारे प्रश्न पूछ-कर उनलोगों के हृदय में भी वैराग्य उत्पन्न कर दिया। सबलाश्वगण को भी मुक्ति के मार्ग के यात्री जानकर दक्ष दारुण क्रोध में अभिभूत हो गये। उसी समय नारद स्वयं दक्ष के सम्मुख उपस्थित हो गये। उन्हें पाकर दक्ष की क्रोधाग्नि और भी प्रज्वलित हो उठी। उन्होंने अनेक कठोर वाक्यों से नारद की तीव्र भर्त्सना कर उन्हें अभिशाप दिया, 'चूँकि तुमने मेरे वंशनाश की व्यवस्था कर मेरा महा अकल्याण किया है इसलिए

सार त्रिभुवन मे कही भी तुम्हे ठहरने के लिए स्थान नही मिलेगा।' नारद के लिए यह शाप वरदान हुआ, हरि के गुणो का गान सुनाते हुए तीनो लोको का कृतार्थ करने के लिए वे नित्य भ्रमण मे रत हो गये।

राजा उत्तानपाद को सुरुचि और सुनीति नामक दो रानियाँ थी। सुरुचि राजा की प्रेयसी थी। सुरुचि के गर्भ से उत्तम का एव सुनीति के गर्भ से ध्रुव का जन्म हुआ। एक दिन राजा उत्तम को गोद मे लेकर दुलार कर रहे थे, उसी समय बालक ध्रुव ने भी पिता की गोद मे जाने की चेष्टा की। यह देखकर गर्विता रानी सुरुचि ने कहा, 'राजा की गोद मे बैठने का सौभाग्य तुम्हे नही है, तुमने तो मेरे गर्भ से जन्म लिया नही है। राज-सिंहासन पर बैठने की इच्छा हो तो श्रीभगवान की आराधना कर मेरे गर्भ से जन्म लेने की चेष्टा करो।'

विमाता के वचन से विषम आघात पाकर ध्रुव रोते-रोते माता सुनीति के निकट उपस्थित हुए। किन्तु, सुनीति का भी रोदनमात्र सम्बल था। उन्होने बालक को सान्त्वना देते हुए कहा 'तुम्हारी विमाता ने ठीक कहा है। राजसिंहासन पर बैठना चाहते हो तो श्रीहरि के चरण-कमल की आराधना करो।' माता के वचन को शिरोधार्य कर ध्रुव ने सबसे छिपकर राजप्रासाद से निकल राज्यप्राप्ति के लिए तपस्या के उद्देश्य से वन को प्रस्थान किया। वहा नारद से उनकी भेट हुई। नारद ने पहले बालक को समझा-बुझाकर घर लौटाने की चेष्टा की। किन्तु, बालक के कठोर हठ को देख प्रीतिपूर्ण होकर उन्हे यमुनातट पर अवस्थित मधुवन मे जाकर श्रीहरि की आराधना मे मन लगाने का उपदेश दिया। देवर्षि से प्राप्त 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस महामंत्र का जप एव उनके द्वारा प्रदत्त साधना-पद्धति का अनुसरण कर ध्रुव शीघ्र ही नारायण के दर्शन-लाभ से कृतार्थ हुए। किन्तु नारायण ने जब उन्हे वर देना चाहा उस समय उनके हृदय से राज्य-भोग की वासना मिट गयी थी। उन्होने कहा 'कोई यदि काँच की खोज मे ढूँढते-ढूँढते मणि पा जाए तो क्या वह मणि को फेककर काँच की खोज करने लगेगा?' श्रीभगवान की कृपा से उन्हे राज्य-प्राप्ति एव भोग के अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति हुई।
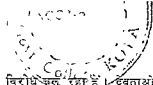
देवों और दैत्यों के बीच दीर्घकाल से विरोध चल रहा है। देवताओं की पराजय और ब्रह्मा से वरदान पाने के उद्देश्य से दैत्यराज हिरण्यकशिपु मन्दराचल पर तपस्या-निरत थे। यह सुयोग पाकर देवराज इन्द्र ने दैत्यपुरी पर आक्रमण कर उसे लूट लिया तथा हिरण्यकशिपु की रानी को बाँधकर वे ले चले। राह में नारद से इन्द्र का साक्षात्कार हुआ। देवर्षि ने उस निरपराध सती गर्भवती परायी स्त्री को बन्धनमुक्त कराने का इन्द्र से अनुरोध किया। देवराज ने उनके वचन को शिरोधार्य कर दैत्यराज की रानी को मुक्त कर दिया। तब नारद ने उन्हें अपने आश्रम में ले जाकर परम यत्नपूर्वक रख दिया। दयालु ऋषि रानी और उनकी गर्भस्थ सन्तान के कल्याण के लिए रानी को धर्मोपदेश देने लगे। यथासमय रानी ने प्रह्लाद को जन्म दिया। नारद के अनुग्रह से प्रह्लाद ने ज्ञानवान और भक्तिमान होकर जन्म-ग्रहण किया।

महर्षि वेदव्यास ने समस्त लोगों की कल्याण-कामना से सनातन वेद को चार भागों में विभक्त किया था, ब्रह्म-सूत्र का प्रणयन किया था और एक लाख श्लोकों से युक्त महाभारत की रचना की थी। तथापि उनके मन में शान्ति नहीं थी। हृदय में किस वस्तु का अभाव रहता है उसे वे भाँप नहीं पाते थे। सरस्वती नदी के तट पर चिन्ताकुल चित्त से बैठे थे। उसी समय देवर्षि नारद वहाँ उपस्थित हुए। कुशल-प्रश्न के बाद व्यासदेव ने अपनी मनोवेदना के कारण के निर्णय में अपनी अक्षमता की बात देवर्षि को सुनायी। नारद ने उनकी शान्ति-प्राप्ति के उपायस्वरूप श्रीभगवान की लीला और गुण का विस्तृत वर्णन कर एक ग्रन्थ की रचना करने का उपदेश दिया। इस प्रकार, नारद के उपदेश से भक्तों के परमप्रिय श्रीमद्भागवत की रचना हुई।

माता कुन्ती के इच्छानुसार युधिष्ठिर आदि पंच पाण्डवों ने द्रौपदी से विवाह किया था। विवाहोपरान्त धृतराष्ट्र ने उनलोगों को हस्तिनापुर वापस लाकर आधा राज्य प्रदान किया था। इसके बाद पाण्डवगणों ने इन्द्रप्रस्थ की नवनिर्मित राजधानी में सुखपूर्वक राज्य-पालन आरम्भ किया। एक दिन वे पाँचों भाई राजसभा में आये। उसी समय स्वेच्छया विचरणशील नारद वहाँ उपस्थित हुए। पाण्डवों ने उन्हें यथोचित समादर कर सभा में बैठाया।

कुशल प्रश्नों के बाद नारद ने उनलोगों से कहा, 'द्रौपदी तुम पाँचों भाइयों की धर्मपत्नी है। उसको लेकर तुमलोगों में जिससे कोई विरोध किसी दिन नहीं हो, ऐसे किसी एक नियम का तुम सब अवलम्बन करो।' इस प्रसंग में उन्होंने पाण्डवों को सुन्द और उपसुन्द दैत्यों की कहानी सुनायी। उनलोगों का भ्रातृ-प्रेम गम्भीर था। एक ही राज्य के अधिकारी दोनों भाई सर्वदा एक ही घर में रहते, एक ही शय्या पर सोते, एक ही आसन पर बैठते एवं एक ही आहार का एक ही पात्र में भोजन करते। किन्तु वे दोनों तिलोत्तमा के रूप पर मुग्ध होकर उसे पाने के लिए आपस में ही युद्ध कर दोनों ही भाई निहत हो गये।

नारद के उपदेश की युक्तिमत्ता का ग्रहण कर पंच पाण्डवों ने उनके सामने इस प्रकार का नियम बनाया—द्रौपदी के साथ अकेले बैठे हुए किसी भाई को यदि कोई अन्य भाई देखेंगे तब जो देखेंगे उन्हें ब्रह्मचर्य का अवलम्बन करते हुए बारह वर्षों तक वनवास करना होगा। इस नियम का पालन करते हुए धर्मचारिणी द्रौपदी के साथ वे लोग सुखपूर्वक समय व्यतीत करने लगे।

महाराज युधिष्ठिर मय नामक दानव द्वारा निर्मित नरलोक में अतुलनीय राजसभा में समासीन थे। सभा निर्माण में अभिव्यंजित शिल्प की निपुणता देखकर सभी मुग्ध थे। इस रमणीय सभाभवन ने धीर, स्थिर युधिष्ठिर के अन्तःकरण में भी, लगता है कि कुछ गौरव-बोध का उद्रेक कर दिया। देवर्षि नारद एक दिन उसी सभाभवन में उपस्थित हुए। युधिष्ठिर ने उनकी अतिशय भक्तिपूर्वक अभ्यर्थना की। बातों के प्रसंग में राजा ने देवर्षि को उनके द्वारा देखी गयी अन्यान्य राजसभाओं का वर्णन करने को कहा। लगता है, युधिष्ठिर का अभिप्राय था कि नारद मयनिर्मित राजसभा की विशेष प्रशंसा करेंगे। किन्तु उन्होंने ब्रह्मा, इन्द्र, यम आदि के सभागृहों का जैसा वर्णन किया उसमें युधिष्ठिर की राजसभा तुच्छ है—ऐसा सबको प्रतीत हुआ।

कलहप्रिय के रूप में नारद की अपकीर्ति है। विरोध बढ़ाकर, या किसी के लिए असुविधा की सृष्टिकर वे आनन्द का उपभोग करते हैं, इस रूप में अनेक कथाएँ पुराणादि में पायी जाती हैं। उनके नाम का भी एक अन्य

व्युत्पत्तिगत अर्थ है—कलह-सृष्टि के द्वारा जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद उत्पन्न करते हैं (नार नरसमूह कलहेन द्यति खण्डयति इति नारद.)। किन्तु, उनके द्वारा सर्जित इन सब विरोधमूलक घटनाओं का विश्लेषण करने पर उनकी चेष्टा का गम्भीरतर उद्देश्य देखने में आता है। स्रष्टा की विश्वलीला के सहायक के रूप में वे त्रिभुवन का विचरण करने निकलते हैं। सृष्टि का अर्थ ही हुआ वैचित्र्य—सत् और असत् का द्वन्द्व। इन द्वन्द्वों के बीच, परिणाम में सत् की विजय दिखाना ही उनकी सारी चेष्टाओं का उद्देश्य है, ऐसा प्रतीत होता है। कई बार वे भली भांति विरोध उत्पन्न कर देते हैं, असत् की समाप्ति के लिए, विनाश के लिए। श्री रामकृष्णदेव कहते थे, "पील्हा बड़ा होने पर तभी उसके ऊपर मनसा वृक्ष का दूध देना होता है। ······फोड़ा के पकने पर ही डाक्टर नस्तर लगाता है।" समय नहीं आने तक कष्ट सहते जाना होता है—परिणाम में कल्याण के लिए।

समुद्रमंथन के परिणामस्वरूप लाभ के सारे अंश देवताओं के हिस्से पड़ा था। तथापि देवासुर में भयंकर युद्ध चलता रहा—देवताओं ने असंख्य असुरों का वध किया। इसी अवस्था में देवर्षि नारद ने समरक्षेत्र में उपस्थित होकर देवताओं को सम्बोधित कर कहा, 'आपलोगों ने तो अमृत पाया है, लक्ष्मी देवी को प्राप्त किया है। तब और किस वस्तु के लिए युद्ध?" उनके उपदेश से देवगण असुर-विनाश के कर्म से विरत हुए।

वसुदेव के साथ देवकी के विवाह के बाद कंस ने दैववाणी सुनी थी, "देवकी के गर्भ से उत्पन्न आठवीं सन्तान के हाथों तुम्हारी मृत्यु होगी" मृत्यु से बचने के लिए उन्होंने बहन और बहनोई को कारागार में डाल दिया। नियम बना कि जन्म लेने के उपरान्त देवकी की प्रत्येक सन्तान का कंस वध करेंगे। प्रथम सन्तान को लाकर वसुदेव ने जब कंस के हाथ में दिया तब कंस ने कहा, 'देवकी के आठवें गर्भ की सन्तान के हाथों मेरी मृत्यु निर्धारित है। अतः इस शिशु को तुम ले जाओ।' इसी समय नारद ने वहाँ उपस्थित होकर कहा, 'अरे राजा कंस, तुम यह क्या करते हो? व्रजपुरी के सारे गोप-गोपियों और वृष्णिवंश के वसुदेव आदि सबका देवांश से जन्म हुआ है। तुम्हारी बहन देवकी और तुम्हारे अनुगत आत्मीयजन, बन्धु-बान्धव ये सभी देवता हैं—

ये सभी तुम्हारे शत्रु हैं।' इस बात को सुनने के फलस्वरूप कंस का अत्याचार चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। उन्होंने अपने अनुचरों को व्रजपुरी और मधुपुरी के समस्त शिशुओं की हत्या का आदेश दिया। देवकी और वसुदेव कारागार में शृंखलाबद्ध हुए। संसार का भार समाप्त करने के लिए नारद ने इस काण्ड को बढ़ाया।

नारद-भक्ति-सूत्र, नारद-संहिता, नारदीय शिक्षा एवं संगीत मकरन्द—ये चार पुस्तकें देवर्षि नारद-रचित कही जाती हैं। ये सब ग्रंथ उनके द्वारा रचित हैं या नहीं, इसके निर्णय का कोई उपाय नहीं है। 'नारद-संहिता' प्रसिद्ध स्मृतिशास्त्र है।

वैष्णवों का विशेष प्रिय ग्रंथ 'नारद पंचरात्र' के साथ देवर्षि का नाम जुड़ा है। किन्तु, वे स्वयं इस ग्रंथ के रचयिता नहीं हैं। इस ग्रंथ में कथित विषय उन्होंने भगवान शंकर से उपदेशरूप में प्राप्त किया था।

'नारद-परिव्राजक-उपनिषद्' एवं 'नारदीय-पुराण' के साथ उनका नाम विशेष रूप से जुड़ा है। इनके अतिरिक्त महाभारत एवं श्रीमद्भागवत आदि पुराणों के कई स्थलों पर उन्हें अशेष सम्मानित उपदेशक के आसन पर देखा जाता है।

अन्त में भगवान श्रीकृष्ण ने राजा उग्रसेन से नारद की जिन अशेष गुणावलियों का वर्णन किया है उनका संक्षेप में वर्णन करके इस विवेचन का उपसंहार करूँगा।

श्रीकृष्ण ने कहा, "नारद शास्त्रज्ञ हैं, उनका चरित्र अत्यन्त महान् है, तथापि उनका अहंकार नहीं है। वे तेजस्वी, बुद्धिमान, नीतिविद्, विनयी और तपपरायण हैं। कार्य में अनिच्छा, क्रोध, चपलता, भय, दीर्घसूत्रता आदि दोषों से वे मुक्त हैं। काम या लोभ के वशीभूत हो वे कभी भी अपने वचन को अन्यथा नहीं करते। वे आत्मतत्वज्ञ, क्षमाशील, शान्त, जितेन्द्रिय, सरल और सत्यवादी हैं। वे ईश्वर में दृढ भक्तिसम्पन्न, चित्त की हीनता से मुक्त, अहिंसक और मोहरहित हैं। वे सुशील, लज्जाशील एवं मधुरभाषी हैं। वे निष्पाप, ईर्ष्यारहित और दूसरों की कल्याण-साधना में निरत रहते हैं। दूसरा

का अनिष्ट देखकर वे प्रसन्न नही होते। शास्त्रज्ञान एवं पूर्व की जानकारी की सहायता से वे सारे कार्य करते है। वे तितिक्षा-परायण हैं। किसी की वे अवज्ञा नही करते। समबुद्धि-सम्पन्न होने के कारण उनका न कोई विशेष प्रिय है, न कोई विशेष अप्रिय। वे महापण्डित है, वाग्मी और आलस्यहीन है, किन्तु हठी या जिद्दी नही है। उन्हें क्रोध या लोभ नही है। सम्मान पाने के उद्देश्य से वे साधना मे रत नही होते। अपनी प्रशसा वे कभी नही करते। वे मधुरभाषी हैं। वे मनुष्यो के विचित्र आचरण देखते है किन्तु, किसी की निन्दा नही करते। मनुष्य-मनुष्य के बीच मेल-मिलाप कराने में वे निपुण है। वे किसी विषय में आसक्त नही हैं, फिर ऐसा लगता है मानो वे सभी विषयों के प्रति आग्रहशील हैं। किसी विषय में स्थिर सिद्धान्त में उपनीत होने में उन्हें देर नही लगती। वे अपने विश्वास के अनुसार चलते है, किन्तु दूसरो के मत के प्रति अवज्ञा का प्रदर्शन नही करते। लाभ होने से वे आनन्दित या क्षति होने से व्यथित नहीं होते। वे स्थिर बुद्धि और अनासक्त हैं। इन सारे सद्‌गुणो से विभूषित नारद सर्वत्र सबके द्वारा पूजित है।" (महाभारत, शान्तिपर्व)

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥
(श्रीमद्‌भागवत १।६।३९)

"अहो ! ये देवर्षि (नारदजी) धन्य है। वे वीणा-वाद्य द्वारा नारायण का गुणगान कर केवल स्वयं ही मस्त नही रहते, बल्कि इस दुःखी जगत् को भी आनन्द प्रदान करते है।"

□

नारद-भक्ति-सूत्र

प्रथम अनुवाक

पराभक्ति का स्वरूप

अथातो भक्तिं व्याख्यास्याम ॥१॥

अथ (अब) अत (इसलिए—भक्तिमार्ग के अधिकारी को भक्तितत्त्व जानने का इच्छुक समझकर) भक्ति (भक्तितत्त्व) व्याख्यास्याम (व्याख्या करूँगा) ॥ १

अब भक्तितत्त्व के अधिकारी जिज्ञासु का उपदेशदान करने के लिए भक्तितत्त्व की व्याख्या करूँगा ॥ १

जिसे जिस विषय की जानकारी के लिए श्रद्धा या आग्रह नहीं है, अथवा श्रद्धा एव आग्रह रहने पर भी जिस विषय की धारणा करने की सामर्थ्य नहीं है, उसे उस विषय का उपदेश देना व्यर्थ है। ईश्वर की चर्चा सुनना भी सबको अच्छा नही लगता। फिर, समय नहीं आने पर सुनने से भी वह किसी काम का नहीं होता है। श्री रामकृष्णदेव ने कहा है—"पात्र देखकर उपदेश देना होगा।"

"जिन लोगो का, देखता हूँ कि ईश्वर मे मन नहीं है, उनसे मै कहता हूँ, तुम जरा वहा जाकर बैठो। अथवा कहता हूँ—जाओ, बड़ी अच्छी बिल्डिंग (दक्षिणेश्वर की रानी रासमणि की कालीबाड़ी के सारे मन्दिर) है, देखो जाकर।"

"फिर देखता हूँ कि भक्तो के साथ कुछ विवेकहीन लोग आये है। उन लोगो मे भारी विषय-बुद्धि है। भक्त लोग प्राय काफी देर तक ईश्वरीय चर्चा करते हैं। इधर ये लोग और ठहर नहीं पाते हैं, छटपट करते हैं। बार-बार कानो मे फुसफुसा कर बोलते हैं, 'कब जाओगे, कब

जाओगे ?' उनसे ऐसा कहने पर 'ठहरो न, थोड़ी देर बाद जाऊँगा।' तब वे असन्तुष्ट होकर कहते हैं, 'तब तुमलोग बातें करो, हमलोग नाव पर जाकर बैठते हैं।"

"हजार लेक्चर दो, विषयी लोगों का कुछ उपकार कर नहीं पाओगे। पत्थर की दीवार पर क्या कील ठोकी जा सकती है ? कील का माथा टूट जाय तो भी दीवार को कुछ नहीं होगा। तलवार से चोट करने पर घड़ियाल का क्या होगा ?"

"हजार शिक्षा दो, समय नहीं होने पर फल नहीं होगा। बच्चे ने बिछावन पर सोने के समय माँ से कहा, 'माँ, मुझे जब पाखाना लगे तब तुम मुझे उठा देना।' माँ ने कहा, 'बेटा, पाखाना ही तुम्हें उठा देगा, इसके लिए चिन्ता मत करो।' इसी तरह भगवान के लिए व्याकुल होने का उपयुक्त समय होने पर ही होता है।"

कौन-सा गुण रहने पर मनुष्य भक्ति की बात सुनने के लिए, भक्ति-लाभ के लिए अधिकारी होता है ? ज्ञान, योग आदि साधना-पथों के अधिकारी को शारीरिक, मानसिक आदि विभिन्न गुणों से सम्पन्न होना पड़ता है, किन्तु भक्ति-लाभ के लिए केवल आन्तरिक व्याकुलता, ऐकान्तिक आग्रह रहने से ही हो गया। श्रीरामकृष्णदेव ने एक दिन एकत्र तरुण भक्तों को कहा था, "यहाँ अन्य कोई नहीं है, इसी से तुमलोगों से कहता हूँ, आन्तरिक भाव से ईश्वर को जो जानना चाहेगा, उसे ही होगा, निश्चय ही होगा। जो व्याकुल, ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, उसे ही होगा।"

"जब तक भोग-वासना रहती है, तब तक ईश्वर को जानने या दर्शन करने के लिए प्राण व्याकुल नहीं होते। बच्चा खेल में भूला रहता है। सन्देश (मिठाई) देकर बुलाओ तो थोड़ा सन्देश खायेगा। अब खेल भी अच्छा नहीं लगता, सन्देश भी अच्छा नहीं लगता, तब कहता है, 'माँ के पास जाऊँगा,' सन्देश नहीं चाहता। जिसे पहचानता नहीं, जिसे कभी देखा तक नहीं, वह भी यदि कहे, 'आओ माँ के पास ले

जाता हूँ,' उसके साथ हो जायगा। जो गोद में उठा कर ले जायगा उसी के साथ जायगा।

सांसारिक भोग कर लेने के पश्चात् ईश्वर के लिए प्राण व्याकुल होते हैं। कैसे उन्हें पाऊँगा, केवल यही चिन्ता होती है। जो कोई कुछ कहता है, वही सुनता है।"

महर्षि शाण्डिल्य ने कहा है—'आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते'। भक्ति में जाति, वर्ण, विद्या, वय के बिना विचार के सबका अधिकार होता है। शास्त्रों में इसके असंख्य दृष्टान्त पाये जाते हैं।

किस प्रकार व्यक्ति भक्तियोग का आश्रय लेकर साधना करेगा उसका लक्षण श्रीकृष्ण बताते हैं—

> यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
> न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥
> (भा० ११/२०/८)

'किसी भी प्रकार से सौभाग्यवश जिस व्यक्ति में मेरी कथा आदि में श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, जिसमें तीव्र वैराग्य नहीं उत्पन्न हुआ है, फिर विषयों में भी विशेष आसक्ति नहीं है, भक्तियोग का आश्रय ग्रहण करने पर उसे सिद्धि-लाभ होगा।'

और इस भक्ति-साधना के लिए समय तथा वय की अपेक्षा नहीं करनी होगी। भक्तराज प्रह्लाद अपने साथी दैत्य बालकों से कहते हैं—

> कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह
> दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥ (भा० ७/६/१)

"बुद्धिमान व्यक्ति को बचपन में ही भक्ति-धर्म का अनुशीलन करना चाहिए। एक तो मनुष्य-जन्म ही दुर्लभ है, उस पर सार्थक जीवन तो और भी दुर्लभ है।"

सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा ॥२॥

सा (वह भक्ति) तु (किन्तु) अस्मिन् (इस परमेश्वर में) परमप्रेमरूपा (ऐकान्तिक प्रेमस्वरूपा) ॥२॥

अन्य किसी वस्तु के ऊपर नहीं, वल्कि एकमात्र परमेश्वर के ऊपर ऐकान्तिक प्रेम को भक्ति कहते है ॥२॥

मनुष्य-मनुष्य के बीच जितने प्रकार के प्रेम-सम्बन्ध होते हैं उन सबमें पति-पत्नी का प्रेम सबकी अपेक्षा गहन और गम्भीर होता है। उसे साधरणत. प्रेम का नाम दिया जाता है। किन्तु भगवान के प्रेम से उस प्रेम की तुलना ही नहीं हो सकती है। इसी से भक्ति की सज्ञा का निर्देश करने के लिए देवर्षि ने उसके साथ 'परम' विशेषण का प्रयोग किया है और वह अनुभवगम्य है। वाक्यों के द्वारा उसके स्वरूप को ठीक-ठीक व्यंजित करना सम्भव नही है, इसी से प्रेम के साथ 'रूप' का प्रयोग कर समझाने की वे चेष्टा करते हैं। साधना का आश्रय लेने पर ईश्वर के अनुग्रह से साधक के हृदय मे इस शुद्धाभक्ति का आविर्भाव होता है। "प्रेम का अर्थ है ईश्वर से ऐसा प्रेम कि ससार विस्मृत हो जाय, फिर अपनी देह, जो इतनी प्रिय है, उसका भी विस्मरण हो जाय।" प्रेम रज्जुस्वरूप है। प्रेम होने से भक्त के निकट ईश्वर बँध जाते हैं, और निकल कर भाग नहीं पाते।"

आत्मा की आत्मा अन्तर्यामी ही जीव की भक्ति के आस्पद हैं। नारद उनके विषय में केवल 'अस्मिन'— 'इसमें' कहकर ही सन्तुष्ट हो गये—कोई नाम या संज्ञा नहीं दी। वे साकार या निराकार हैं, सगुण या निर्गुण है, वह सब कुछ नहीं कहा। साधक की रुचि, संस्कार आदि के अनुसार प्रेमास्पद का स्वरूप उनके हृदय में स्वतः प्रकाशित होगा। प्रेम के साथ तीन वस्तुएँ हैं—प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम का बन्धन। प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच अनुभूत सारे व्यवधानो के नष्ट होने पर—अभेद-ज्ञान में प्रेम की परिसमाप्ति होती है।

"भगवान के प्रति प्रेम दुर्लभ वस्तु है। पहले पत्नी की जिस प्रकार पति के प्रति निष्ठा होती है वैसी ही निष्ठा यदि ईश्वर के प्रति हो, तभी भक्ति होती है। श्रद्धा-भक्ति का होना बड़ा कठिन है। भक्ति मे प्राण-मन ईश्वर में लीन हो जाते हैं।

प्रेम होना बहुत दूर की बात है। ईश्वर में प्रेम होने पर बाहर

की वस्तुएँ विस्मृत हो जाती हैं। अपनी देह, जो इतनी प्रिय वस्तु है, वह भी भूल जाती है।"

"जिस-तिस तरह से भक्ति करने से ही ईश्वर को नहीं पाया जाता। प्रेमाभक्ति नहीं होने पर ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती। प्रेमाभक्ति का एक अन्य नाम रागात्मिका भक्ति है। प्रेम या अनुराग नहीं होने पर भगवान की प्राप्ति नहीं होती। ईश्वर के ऊपर प्रीति नहीं होने पर उन्हें पाया नहीं जाता। संसार-बुद्धि चली जाय और पूरी तरह प्रभु के ऊपर सोलहों आने मन हो, तभी उन्हें पाओगे।"

"भक्ति के द्वारा ही उनका दर्शन होता है, किन्तु, पक्की भक्ति, प्रेमाभक्ति, रागानुगा भक्ति चाहिए। ऐसी भक्ति के होने पर ही उनके ऊपर प्रेम आता है, जैसा बच्चे का माँ के प्रति प्रेम होता है, स्त्री का पति के प्रति प्रेम होता है, वैसी ही भक्ति होने पर ईश्वर के प्रति प्रेम उपजता है। एक गीत में है—प्रभु, बिना प्रेम के यज्ञ-याग कर, क्या तुमको जाना जा सकता है?' यही अनुराग, यही प्रेम, यही पक्की भक्ति, यही प्रीति यदि एक बार हो तो साकार-निराकार दोनों का ही साक्षात्कार होता है।"

इसी प्रेमाभक्ति की प्राप्ति के लिए साधना की आवश्यकता होती है। "और एक प्रकार की भक्ति है। उसका नाम वैधी भक्ति है। इतने जप करने होंगे, उपवास करने होंगे, तीर्थों में जाना होगा, इतने उपचारों के साथ पूजा करनी होगी—यह सब वैधी भक्ति है। यह सब काफी करते-करते क्रम से रागानुगा भक्ति आती है। किन्तु, रागानुगा भक्ति जब तक नहीं होगी तब तक ईश्वर-लाभ नहीं होगा। उनके ऊपर प्रेम चाहिए।

"किन्तु किसी-किसी को रागानुगा भक्ति अपने-आप होती है। स्वतः सिद्ध। बचपन से ही होती है, बचपन से ही वह ईश्वर के लिए रोता है। जैसे प्रह्लाद ।"

"भक्ति के द्वारा ही उनके दर्शन होते हैं, भाव-समाधि में रूप-दर्शन होता है और निर्विकल्प समाधि में अखण्ड सच्चिदानन्द का दर्शन होता है—तब अहंकार, नाम, रूप नहीं रहते। वह भक्ति आने पर माँ जैसे बच्चे
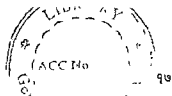
को, बच्चा जैसे माँ को और स्त्री जैसे पति को प्रेम करती है, वैसा ही प्रेम आता है। इस प्रेम, इस रागानुगा भक्ति के आने पर स्त्री, पुत्र और आत्मीयजनों के ऊपर माया का वह आकर्षण नहीं रह पाता; केवल दया रहती है। संसार एक कर्मभूमि की तरह लगता है, जैसे विदेश हो। ईश्वर के प्रति प्रेम होने पर संसार की आसक्ति और विषय-बुद्धि पूरी तरह चली जाती है।"

"ईश्वर पर खूब प्रेम नहीं होने से प्रेमाभक्ति नहीं होती। प्रेमाभक्ति का लक्षण अपने-आप भक्ति होना, बिना संस्कार के नहीं होता। ज्ञान-भक्ति विचार के द्वारा भक्ति करने को कहते हैं। तीन बन्धुओं ने वन में जाते-जाते एक बाघ को देखा। एक व्यक्ति ने कहा—'भाई, इस बार हम-लोग मरे।' दूसरे व्यक्ति ने कहा—'मरेंगे क्यों, हम लोग ईश्वर को पुकारें।' तीसरे व्यक्ति ने कहा—'आओ, हमलोग इस पेड़ पर चढ़ जाते हैं, झूठ-मूठ भगवान को कष्ट देने की क्या जरूरत है?' जिसने कहा, 'इस बार हम लोग मरे' वह यह नहीं जानता की ईश्वर ही हमलोगों की रक्षा करते हैं। जिसने कहा, 'ईश्वर को पुकारें' वह हुआ ज्ञानी। उसे यह बोध है कि वे ही सृष्टि, स्थिति, प्रलय, सब करते हैं। और जिसने कहा, 'आओ, हमलोग इस पेड़ पर चढ़ जाते हैं, उन्हें कष्ट देकर क्या होगा'—उसके भीतर प्रेम का अभ्युदय हुआ है। प्रेम का स्वभाव ही यही है कि व्यक्ति अपने को बड़ा और प्रियपात्र को अपने से छोटा मानता है। उसे कष्ट देना नहीं चाहता। जिसे प्रेम करता है, उसके पाँव में काँटा तक न चुभे, केवल यही उसकी इच्छा रहती है।

इस प्रकार का भक्ति-लाभ उत्तम भक्त के भाग्य में घटित होता है। श्रीमद्‌भागवत में विभिन्न श्रेणियों के भक्तों का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—'सभी प्राणियों में जो अपना और भगवान का दर्शन करते हैं और सभी प्राणियों को ईश्वर के भीतर तथा अपने भीतर देखते हैं, वे उत्तम भक्त हैं। ईश्वर के प्रति जिनको प्रेम एवं भक्तों के साथ जिनका मैत्री भाव है, अज्ञानियों पर जिनकी कृपा रहती तथा ईश्वर-विद्वेषियों की जो उपेक्षा करते हैं—वे मध्यम भक्त हैं। जो श्रद्धापूर्वक प्रतिमा

आदि मे ईश्वर की उपासना करते, किन्तु भक्तो एव अन्य प्राणियो की सेवा नहीं करते वे साधारण भक्त हैं।'

> सर्वभूतेषु य पश्येद् भगवद्भावमात्मन ।
> भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम ॥
> ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
> प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा य करोति स मध्यम ॥
> अर्चायामेव हरये पूजा य श्रद्धयेहते ।
> न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्त प्राकृत स्मृत ॥
> (भा० ११-२-४५-४७)

मध्यम और अधम अधिकारी के लिए साध्य भक्ति या गौणी भक्ति का विधान है। गौणी भक्ति के लक्षणो और साधनो का बाद मे वर्णन होगा।

अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥

च (एव) [वह] अमृतस्वरूपा ॥३

यह भक्ति केवल परमा प्रेमरूपा नही है, यह अमृतस्वरूपा भी है ॥३॥

सासारिक प्रेम मे प्रतिक्रिया है, उसका अत है और उसमे विकार की सभावना है। यह प्रेम 'मैं', 'मेरा' इस अज्ञान का आश्रय लेकर उद्भूत और सवर्धित होता है। अज्ञान का फल है दुख—अज्ञान रहने पर जन्म-मृत्यु के चक्र से निस्तार नही है। भक्ति के परम प्रेमरूपा होने पर भी क्या उसमे सासारिक प्रेम की भाँति दुख और मरण का सम्बन्ध है ? इस आशका की सभावना से देवर्षि नारद कहते हैं—नहीं, भक्ति अमृतस्वरूपा है, भय-मृत्यु के सम्बन्ध से रहित परमानन्द ही इसका स्वरूप है, जब तक देह मे और देह का आश्रय लेकर सासारिक पदार्थ समूहो मे 'मैं', 'मेरा'—ज्ञान बना रहता है, तब तक मुक्ति नहीं होती है। किन्तु, परा-भक्ति प्राप्त होने पर यह 'मैं', 'मेरा'—बोधरूप अज्ञान मिट जाता है और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं, "मैंने नरेन्द्र (स्वामी] विवेकानन्द) को कहा था—देखो, ईश्वर रस के सागर हैं। क्या इस रस के सागर मे डुबकी लगाने
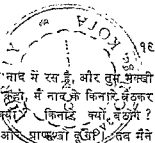
की तुम्हारी इच्छा नहीं होती ? मान लो, एक नाद में रस है, और तुम मक्खी हो, तो कहाँ बैठकर रस पियोगे ? नरेन्द्र ने कहा, मैं नाव के किनारे बैठकर मुँह बढ़ाकर पिऊँगा। मैंने जिज्ञासा की, क्यों ? किनारे क्यों बैठोगे ? उसने कहा—अधिक दूर जाने से डूब जाऊँगा और प्राण खो दूँगा। तब मैंने कहा—बच्चा, सच्चिदानन्द सागर में यह भय नहीं है। यह अमृत का सागर जो है, इस सागर में डुबकी लगाने पर मृत्यु नहीं होती, मनुष्य अमर हो जाता है। ईश्वर के लिए उन्मत्त होने पर मनुष्य पागल नहीं होता।····जिसे अज्ञान है, वही कहता है कि भक्ति और प्रेम की अधिकता उचित नहीं होती है। इसी से तुमसे कहता हूँ कि सच्चिदानन्द के सागर में मग्न हो जाओ।"

भगवान-प्राप्ति का जो आनन्द है उसका क्षय नहीं होता, व्यय नहीं होता, नाश नहीं होता। किसी कार्य के फलस्वरूप जो प्राप्ति होती है, उसी का नाश होता है। यह भक्ति तो किसी कार्य के फल से उत्पन्न कोई वस्तु नहीं है—यह तो सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही स्वरूप है। उस आनन्दस्वरूप को पा लेने पर और भय नहीं, मृत्यु नहीं। उस ब्रह्म के आनन्द का एक कण पाकर यह जगत् आनन्दमय हो गया है।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति,
अमृतो भवति, तृप्तो भवति ॥४॥

यत् (जिसे) लब्ध्वा (लाभकर) पुमान् (पुरुष) सिद्धः भवति (सिद्ध होता है) अमृतः भवति (मृत्यु-भय से मुक्त होता है) तृप्तः भवति (परमा तृप्ति की प्राप्ति करता है) ॥४

जिस भक्ति को प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध होता है, मृत्यु-भय से मुक्त होता है एवं परमा तृप्ति को प्राप्त करता है ॥४॥

भक्ति-लाभ से मनुष्य पूर्ण होता है, देव-स्वरूप को प्राप्त करता है और परमा परितृप्ति की प्राप्ति करता है।

'सिद्ध होता है' कहने से भक्त अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों को प्राप्त करते हैं—यह समझना भूल होगी। भक्त मुक्ति भी नहीं चाहते। ये सारी

सिद्धियाँ तो अत्यन्त तुच्छ हैं। "हीन बुद्धिवाले लोग ही सिद्धाई चाहते हैं। बीमारी ठीक करना, मुकदमा जिताना, पानी को पाँव-पैदल पार कर जाना, आग पर चलना, और किसी स्थान में कोई आदमी क्या बोलता है उसे कह पाना, यही सब। फिर स्वस्त्ययन कर रोग से चंगा करना—सिद्धाई है। जब तक थोड़ी सिद्धाई रहती है तब तक प्रतिष्ठा, लोक-सम्मान यही सब होते हैं। जो शुद्ध भक्त हैं, वे ईश्वर के पाद-पद्म को छोड़कर और कुछ नहीं चाहते। सिद्धाई का रहना एक महान् विपत्ति है।" "उन सबके रहने से क्या होता है? उन सब सिद्धाइयों के बन्धन में पड़कर मन सच्चिदानन्द से दूर चला जाता है। उन सब पर मन नहीं देना चाहिए। साधना में लगे रहने पर वे सब कभी-कभी अपने-आप आ जाती हैं, किन्तु इन सब पर जो मन देता है वह यहीं रह जाता है। भगवान की ओर आगे नहीं बढ़ पाता है।"

भक्त मन-प्राणों से केवल इष्ट की सेवा करना चाहते हैं। भक्त की और कोई कामना नहीं होती। किन्तु वे तो भक्तवत्सल हैं—भक्ताधीन। भक्त के दूर रहना चाहने पर भी वे उन्हें अपनी गोद में खींच लेते हैं। उनके प्रेम का एक कणमात्र प्राप्त कर भक्त कृतकृत्य हो जाते हैं। कोई कामना ही उनकी नहीं रहती। उन्हें प्राप्त कर निश्चय ही सारे अभाव-बोध की परिसमाप्ति हो जाती है, तब फिर मुक्ति की कामना ही कैसे रहेगी? पहले ही कहा गया है—भक्ति ही अमृतरूपा है। इसलिए, भक्ति-लाभ से भक्त अमृत हो जाते हैं, मृत्यु का भय और रहता नहीं। देह का सुख-दुःख उनका नहीं होता—और सुख-दुःख जो घटित होता है, सब कुछ ही उसी प्रेममय की लीला है—यह भाव पक्का होने के फलस्वरूप भक्त नित्य अमृत सागर में हिलोरें लेते हुए रहते हैं।

इन्द्रिय-ग्राह्य भोग्य वस्तु में कभी यथार्थ तृप्ति नहीं मिलती। भोग्य वस्तु मात्र ससीम है। फिर भोग के साथ आता है अवसाद। और संसार में कितना भोग कर पाते हो? "सांसारिक प्राणी कहता है, क्यों कामिनी-कांचन में आसक्ति नहीं मिटती? ईश्वर को प्राप्त करने पर आसक्ति जाती है। यदि एक बार ब्रह्मानन्द प्राप्त हो, तो इन्द्रिय-सुख का भोग करने अथवा जय-मान-

संभ्रम के लिए, और मन दौड़ता नहीं। पंख वाली चीटी यदि एकबार प्रकाश देख ले तो फिर वह अन्धकार में नहीं जाती।"

"ईश्वर के लिए ही साधन-भजन। उनका चिन्तन जितना करोगे, उतनी ही संसार के सामान्य भोग की वस्तु मे आसक्ति कमेगी। उनके पाद-पद्म मे जितनी भक्ति होगी, उतनी ही विषय-वासना कम हो जायगी, उतनी ही देह-सुख की ओर दृष्टि कम होगी; परायी स्त्री में मातृत्व-बोध होगा, अपनी पत्नी मे धर्म के सहायक बन्धु का भाव होगा, पशु-भाव चला जायगा, देव-भाव आयगा, संसार में पूर्णत. अनासक्त हो जाओगे। तब यदि संसार मे भी रहो तो भी जीवन्मुक्त होकर रहोगे।"

साधना की चरम अवस्था में साधक तृप्त होता है। जब तक वस्तु-लाभ नही हो तब तक चाहिए व्याकुलता। साधन-भजन के फल से थोड़ा आनन्द-लाभ होते ही 'काफी हो गया'—यह समझना भूल होगी। "साधन कर और भी आगे बढ़ो। साधन करते-करते और भी आगे जाने पर बाद में समझोगे कि ईश्वर ही वस्तु है और सारी चीजें अवस्तु हैं, ईश्वर-लाभ ही जीवन का उद्देश्य है। और आगे जाने पर ईश्वर की प्राप्ति होगी। उनके दर्शन होंगे। क्रमश: उनके साथ आलाप और बातचीत होगी।"

"एक बार ईश्वर के आनन्द का आस्वाद पाने पर उसी आनन्द के लिए भक्त दौड़-धूप करता है। तब संसार रहे या जाय। भगवान का आनन्द-लाभ होने पर संसार स्वादहीन प्रतीत होता है। तब कामिनी-कांचन की बात जैसे हृदय में पीड़ा पहुँचाती है। दुशाला पाने पर फिर मोटा कपड़ा अच्छा नहीं लगता। भगवान के आनन्द के सामने विषयानन्द और रमणा-नन्द! उनके रूप का चिन्तन करने पर अप्सराओं का रूप चिता-भस्म की तरह प्रतीत होता है।"

संतोष ही वस्तु-लाभ का मापदण्ड नहीं है। और यहाँ जो तृप्ति की बात की गयी है, वह वस्तु-लाभ का आनुषंगिक फलमात्र है। भक्त कभी भी तृप्ति-लाभ की आकांक्षा नहीं करते। किन्तु दूसरे लोग देखते हैं कि भक्त ने इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के साथ ही परम परितृप्ति भी प्राप्त की है। भक्त सांसारिक दुःख का भी भय नहीं करते। चाहे जिस किसी अवस्था में ही

ईश्वर क्यों नहीं रखें, केवल उन्हें नहीं भूलने से ही भक्त परम आनन्दित होते हैं।

प्रेम की प्राप्ति होने पर भक्त और कुछ नहीं चाहते। श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—

> न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
> न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥
>
> भा० ११।१४।१४

'मेरे जिस भक्त ने मुझमें मन-बुद्धि का अर्पण किया है वह मुझे छोड़कर ब्रह्मा का अधिकार, इन्द्रत्व, समग्र पृथ्वी या पाताल का आधिपत्य, अष्टयोग-सिद्धि या विदेहमुक्ति किसी की भी कामना नहीं करता।'

यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥५॥

यत् (जिसे) प्राप्य (पाने पर) किञ्चित् (कुछ भी) न वाञ्छति (इच्छा नहीं करते) न शोचति (शोक नहीं करते) न द्वेष्टि (द्वेष नहीं करते) न रमते (अनुरक्त नहीं होते) न उत्साही भवति (किसी विषय में उत्साह नहीं प्रकट करते) ॥५

जिस भक्ति को प्राप्त करने पर भक्त अन्य किसी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं करते, किसी वस्तु के नाश होने पर शोक नहीं करते, किसी से भी द्वेष नहीं करते, किसी वस्तु के पाने पर आह्लादित नहीं होते या किसी वस्तु को पाने के लिए उत्साह प्रकट नहीं करते ॥५॥

जब तक विवेक-वैराग्य नहीं आता है तथा विषय-वासना, राग-द्वेष बने रहते हैं, तब तक यथार्थ साधना का आरम्भ नहीं होता। भक्ति-लाभ के लिए साधकों को इन सबका त्याग करना होगा।

सिद्धावस्था में वासना का पूर्णतया नाश हो जाता है। तब मुक्ति की कामना भी नहीं रहती। भक्त को अभाव-बोध नहीं रहता, इसलिए वे और क्या चाहेंगे? किसके लिए शोक करेंगे? दुःख-बोध भी नहीं है, अतः किसका

त्याग करेंगे ? भक्त को रहती है केवल भक्ति की कामना, दास्य-योग की प्रार्थना। 'कच्चा मैं' के रहने पर ही भोग की वासना रहती है। भक्त का होता है 'पक्का मैं'। भक्त चाहते हैं केवल ईश्वर की सेवा में, उनके नाम एवं गुण-गान में मग्न रहना।

ईश्वर को प्राप्त करने पर "वे तुच्छ फल नहीं देते—वे अमृत-फल देते हैं। वह फल है—ज्ञान, प्रेम, विवेक और वैराग्य।" "ईश्वर की प्राप्ति के फलस्वरूप ही अखंड शान्ति की प्राप्ति होती है। ईश्वर के निकट जितना आगे बढ़ोगे उतनी ही शीतलता का बोध होगा। स्नान करने पर और भी शान्ति मिलेगी।"

"भक्त केवल उन्हें (ईश्वर को) ही जानते है, उन्हें ही चाहते हैं, हनुमान ने कहा था, "मैं तिथि-नक्षत्र नहीं जानता, एकमात्र राम-चिन्तन करता हूँ।"

भक्त जानते हैं कि सब कुछ उनके प्रियतम की इच्छा से ही होता जाता है। इसी से वे किसी वस्तु के लिए, यहाँ तक कि मनुष्य का परम प्रिय जो शरीर है उसके नाश होने पर भी, दुःख नहीं करते। "देह का सुख-दुःख तो है ही। जिसे ईश्वर-लाभ हुआ है वह मन-प्राण, देह-आत्मा सब कुछ उन्हें समर्पण कर देता है। पम्पा सरोवर में स्नान के समय राम-लक्ष्मण ने सरोवर के निकट मिट्टी में धनुष को गाड़ कर रखा। स्नान के बाद लक्ष्मण ने धनुष उठा कर देखा कि धनुष रक्ताक्त हो गया है। राम ने देखकर कहा—भाई, देख-देख, लगता है किसी जीव की हिंसा हो गयी। लक्ष्मण ने मिट्टी खोदकर देखा, एक बड़ा ढाबुस बेंग है। मरणासन्न अवस्था। राम करुण स्वर में कहने लगे 'तुमने आवाज क्यों नहीं की ? मैं तुम्हें बचाने की चेष्टा करता। जब साँप पकड़ता है तब तो खूब चीत्कार करते हो !' मेढक ने कहा, 'राम ! जब साँप पकड़ता है, तब मैं यही कहकर चीत्कार करता हूँ, 'राम, रक्षा करो; राम, रक्षा करो'—अभी देखा कि राम ही मुझे मार रहे हैं, इसी से चुप हूँ'।"

"ईश्वर-लाभ होने से······देहात्म-बुद्धि चली जाती है। देह के सुख-दुःख से उसे सुख-दुःख का बोध नहीं होता। वह व्यक्ति देह का सुख नहीं चाहता। जीवन्मुक्त हो जाता है।"

शोक नहीं रहने से भक्त हृदयहीन पाषाण नहीं हो जायेंगे। उनको सहानुभूति रहेगी, किन्तु अहबोध नहीं रहेगा। दया रहगी—माया नहीं रहेगी। प्रह्लाद भगवान के समीप शोक प्रकट करते हैं, ईश्वर-विमुख, इन्द्रिय-सुखों में मुग्ध बद्धजीवों के लिए—उनकी अपने लिए कोई भावना नहीं है।

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्यास्तद्वीर्य गायन महामृतमग्नचित्त ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थमायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढ़ान् ॥
भा० ७-९-४३

कामना नहीं रहने पर द्वेष भी अपने-आप चला जाता है। कामना की पूर्ति के मार्ग में किसी अवरोध के उपस्थित होने पर ही तो द्वेष की उत्पत्ति होती है।

भक्त किस व्यक्ति के और किस वस्तु के प्रति द्वेष-भाव का पोषण करेंगे? प्रेममय को ही वे ससार में अनेक रूपों में प्रत्यक्ष देखते हैं—ससार की समस्त सृष्टियाँ, सारे व्यापार ईश्वर के लीलाविलास के रूप में भक्त को नित्य अनुभव होते हैं। सारे अशुभों के बीच भी वे मगलमय के मगलहस्त की प्रीति का स्पर्श अनुभव करते हैं।

निश्चय ही लोक-व्यवहार में अन्याय के प्रतिकार के लिए वे क्रोध प्रकट करते हैं, 'फुफकार' करते हैं—किन्तु इसमें उनके हृदय का साम्य नष्ट नहीं होता।

ऐहिक कामना की पूर्ति में हर्ष का उद्रेक होता है—किन्तु भक्त को अविद्याजनित कामना तो रहती नहीं। "पक्की भक्ति, रागानुगा भक्ति, प्रेमा भक्ति के आने पर स्त्री-पुत्र, आत्मीय-कुटुम्ब के ऊपर माया का वह आकर्षण नहीं रहता। दया रहती है। ससार विदेश, मात्र एक कर्मभूमि-जैसा प्रतीत होता है। जैसे गाँव में घर है, किन्तु कलकत्ता कर्मभूमि है, कलकत्ते में निवास कर रहना होता है कर्म करने के लिए। ईश्वर में प्रीति होने पर ससार के प्रति आसक्ति, विषय-बुद्धि पूर्णतया चली जाती है।"

भक्त किसी कार्य में उत्साही नहीं होते। कामना-पूर्ति के लिए कर्म में

उद्यम की आवश्यता होती है। वासनानाश के फलस्वरूप भक्त में त्याग की या ग्रहण करने की कोई चेष्टा नही रहती। भक्त होते है सर्वारम्भ परित्यागी, भक्त होते हैं गुणातीत।

भक्त का 'मैं'—'बालक का मैं' होता है। उनकी कर्म-चेष्टा में अहंज्ञान का, किसी गुण के बन्धन का लेशमात्र नही रहता।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥६॥

यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) [भक्त] मत्तः भवति (उन्मत्त होते हैं), स्तब्धः भवति (स्पन्दनहीन जड़वत् होते हैं) आत्मारामः भवति (आत्माराम होते हैं) ॥६

जिस प्रेम की प्राप्ति कर भक्त उन्मत्त होते हैं, जड़वत् होते है और अपने आनन्द में विभोर होकर रहते हैं ॥६

इस सूत्र में 'ज्ञात्वा' शब्द का व्यवहार होने पर भी उस शब्द के द्वारा इन्द्रिय-मन-बुद्धि द्वारा अनजानी किसी वस्तु का जानना प्रतीत होता है। यहाँ जनने का अर्थ है पाना।

भक्त विधि-निषेध के अतीत हो जाते हैं! अपनी इच्छा, बुद्धि, विचार सब कुछ इष्ट के चरणों में समर्पण कर वे तन्मय जो हो गये हैं। हिसाब कर कार्य करने का उन्हे और अवसर कहाँ! लोग क्या कहते है, क्या सोचते हैं, यह सब सोचना तो उनका और होता नही! फलत., अनेक समय लोक-दृष्टि में उनका आचरण दुर्बोध्य अथवा कभी निन्दनीय प्रतीत होता है।

"जो ईश्वर का सर्वदा दर्शन करता है, उनके साथ बातें करता है, उसका स्वभाव कभी बालकवत्, कभी जड़वत्, कभी उन्मादवत् और कभी पिशाचवत् होता है। पाँच वर्ष के बच्चे की भाँति स्वभाव होता है। लज्जा, घृणा, संकोच आदि कोई बन्धन नहीं—त्रिगुणातीत—किसी गुण का प्रभाव नही। जड़वत्—समाधिस्थ होकर बाह्य शून्य होता है, जड़ की तरह चुपचाप बैठा है। वह कर्म कर नही पाता है। कर्मत्याग हो जाता है। फिर कभी पागल की तरह व्यवहार करता है, कभी हँसता है, कभी

रोता है। अभी बाबू की तरह सजा-सँवरा है, फिर थोडी ही देर बाद नंगा। काँख के नीचे कपडा रख घूमता है, इसी से उन्मादवत्। फिर, पवित्रता और अपवित्रता दोनों ही उसके लिए समान हैं। ईश्वर-दर्शन के बाद यही अवस्था होती है। जैसे चुम्बक के पहाड के निकट से जहाज के जाने पर जहाज का स्क्रू और काटी अलग होकर खुल जाती है।"

"सच्चिदानन्द मे जब तक मन लय नही होता तब तक उनको पुकारना और ससार के कार्य करना—दोनों ही रहते हैं। तदुपरान्त उनमें मन के लय होने पर अन्य किसी काय के करने की आवश्यकता नही रहती। जैसे मानो कोई कीतन गाता है—'निताई मेरा पागल हाथी'। जब पहले गाना शुरू करता है तब गान की कथा, सुर, ताल, मान, लय—सब ओर मन रख कर ठीक गाता है। इसके बाद जहाँ गान के भाव मे मन थोडा लय होता है, तब केवल कहता है—"पागल हाथी, पागल हाथी।" बाद मे जब मन भाव मे और डूब जाता है, तब केवल इस तरह कहता है—'हाथी हाथी।' और जब मन भाव मे और भी डूब जाता है तब हाथी कहते कहते 'हा' कहते हुए आँ कर रहता है।"

"ईश्वर के देखने पर उनके बाहर का ऐश्वर्य, उनके ससार का ऐश्वर्य विस्मृत हो जाता है। हनुमान से किसी व्यक्ति ने जिज्ञासा की, 'आज कौन-सी तिथि है?' हनुमान ने कहा, 'दिन, तिथि यह सब कुछ नहीं जानता हूँ। मैं केवल राम का चिन्तन करता हूँ।' और कूटस्थ बुद्धि—हजार दुख-कष्ट, आपदाएँ-विपदाएँ आयें—वह (भक्त) निर्विकार रहता है।"

"साधना करते-करते एक प्रेम का शरीर हो जाता है, उसकी प्रेम की आँखें, प्रेम के कान हो जाते है। उन आँखो से उन्हें देखता है, उन कानों से उनकी वाणी सुनता है। ईश्वर के प्रति खूब प्रीति नहीं होने पर चारों ओर ईश्वरमय नहीं देखा जाता। तब फिर 'वे ही मैं हूँ' यही बोध होता है। मद्यप को अधिक नशा होने पर कहता है, 'मैं ही काली हूँ।' रात-दिन उनका चिन्तन करने पर उन्हें चारो ओर देखा जाता है। जैसे दीपक की शिखा की ओर काफी देर तक एकटक

देखते रहने से कुछ देर बाद चारों ओर शिखा ही शिखा दिखाई पड़ती है।"

ज्ञान में जैसे अद्वैत बुद्धि होती है— ब्रह्म के साथ अपने अभेद का बोध होता है, प्रेम में भी इसी प्रकार अद्वैत-बुद्धि आ जाती है। प्रेम की अतिशयता में भक्त इष्ट के साथ एक हो जाते हैं।

ऊपर के तीनों सूत्रों में भक्ति-लाभ के जिन सारे लक्षणों का वर्णन किया गया है उनका परिपूर्ण प्रकाश श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में देखा जाता है।

भक्ति-लाभ के जिन सारे लक्षणों की बात कही गयी है, उन सबके लिए किसी को भी चेष्टा नहीं करनी होती, साधना की परिसमाप्ति होने पर भक्ति-लाभ के फलस्वरूप वे स्वयं ही आ जाते हैं।

□

द्वितीय अनुवाक

पराभक्ति का स्वरूप

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥७॥

निरोधरूपत्वात् (त्यागरूपा होने के कारण) सा (वह भक्ति) न कामयमाना (किसी भावना की पूर्ति मे उपयोगी नहीं है) ॥७

भक्ति से किसी वासना की पूर्ति की सम्भावना नही है, क्योंकि भक्ति के उदय होने पर सारी वासनाएँ स्वयं मिट जाती है ॥७

लौकिक प्रेम जो है, वह काम के अतिरिक्त और कुछ नही है। काम के उदय होने से मन विषयों की चिन्ता मे मग्न हो जाता है। किन्तु भाग्यवश किसी के हृदय मे भगवत्प्रेम उत्पन्न होने से उसके लिए फिर विषयो के भोग मे मन लगाना संभव नही होता। तब फिर विषय-त्याग के लिए चेष्टा नही करनी होगी—विषयो का अपने-आप त्याग हो जाता है।

"जिसकी ठीक-ठीक ईश्वर-भक्ति है, वह शरीर, रुपये—इन सबके लिए आग्रह नही करता। वह सोचता है—देह-सुख के लिए, या लोक-मान्यता के लिए, या रुपये-पैसो के लिए फिर जप-तप क्या! ये सब अनित्य हैं, दो-तीन दिनों के लिए हैं।"

"भक्ति के मार्ग मे अन्तः इन्द्रियो का निग्रह स्वयं हो जाता है, और सहज भाव से हो जाता है। ईश्वर के प्रति जितना प्रेम होगा, उतना ही इन्द्रिय-सुख स्वादहीन लगेगा।"

"बाघ जिस प्रकार घप-घप कर पशुओं को खा जाता है, उसी प्रकार अनुराग-रूपी बाघ काम, क्रोध—इन सब रिपुओं को खा जाता है। ईश्वर में एक बार अनुराग होने से काम, क्रोध आदि नही रहते। गोपियों की यही अवस्था हुई थी। कृष्ण पर अनुराग हुआ था।"

"प्रेम के दो लक्षण है। प्रथम—संसार विस्मृत हो जाता है। ईश्वर के प्रति इतना प्रेम होता है कि बाह्यज्ञान शून्य हो जाता है। चैतन्यदेव वन को देखकर वृन्दावन समझते थे, समुद्र को देखकर श्रीयमुना समझते थे। दूसरा लक्षण—अपनी देह जो इतनी प्रिय वस्तु है, इनके ऊपर भी ममता नहीं रहेगी, देहात्मबोध पूर्णतया चला जायगा।"

प्रेम के उदय होने से यदि शरीर का विस्मरण, संसार का विस्मरण हो गया तो फिर कौन-सी भोग-वासना कैसे मन में जगेगी? तब सभी वासनाओं का निरोध हो जाता है। यह निरोध किस प्रकार का होता है?

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥८॥

तु (किन्तु) निरोधः (त्याग) [ऐसा समझना होगा] लोकवेदव्यापारन्यासः (लौकिक और वैदिक कर्मसमूहों का परित्याग) ॥८

निरोध कहने से लौकिक और वैदिक कर्मसमूहों का त्याग या इन सब कर्मों में आसक्ति का त्याग समझना चाहिए ॥८

भक्त आयासपूर्वक कर्म-त्याग नहीं करते, किन्तु "ईश्वर के प्रति प्रेम होने पर कर्म का स्वयं त्याग हो जाता है। समाधि होने पर सभी कर्मों का त्याग हो जाता है।"

"जो रात-दिन ईश्वर का चिन्तन करता है, उसे संध्या करने की क्या जरूरत?"

"तीर्थ, गले में माला, आचार—ये सब शुरू-शुरू में करने होते है। तत्व-प्राप्ति होने पर, भगवान के दर्शन होने पर, बाहर के आडम्बर धीरे-धीरे कम हो जाते है। तब केवल ईश्वर का नाम लेकर रहना होता है, और उनका स्मरण-मनन स्वतः होता रहता है। जिन्होंने ईश्वर-दर्शन किया है उनके द्वारा फिर लड़के-लड़कियों को जन्म देना, सृष्टि का काम फिर नहीं होता। धान बोने पर पौधा होता है, किन्तु उबाल कर सिद्ध किये हुए धान के बोने पर फिर पौधा नहीं होता।"

"कर्त्तव्य है, किसी प्रकार ईश्वर के साथ सम्बन्ध बनाकर रहना। इसके दो मार्ग हैं—कर्मयोग और मनोयोग।

परमहंस की अवस्था में कर्म समाप्त हो जाता है। स्मरण-मनन रह जाता है। सर्वदा ही मन का योग रहता है। यदि कर्म करता है तो वह मात्र लोकशिक्षा के लिए।

सतोगुणी व्यक्ति का स्वभावत कर्म-त्याग हो जाता है, चेष्टा करने पर भी वह और कर्म नहीं कर पाता। जैसे गृहस्थ की स्त्री गर्भवती होने पर अधिक कार्य नहीं कर पाती है। जब तक गर्भ नहीं होता है तब तक सास उसे सारी चीजें खाने और सारे काम करने देती है। पेट में बच्चे के होते ही सास दिन-दिन उसके कार्यों को कम करती जाती है। दस महीने होने पर, बच्चे का अनिष्ट होगा—इसी कारण से और कोई कार्य नहीं करने देती। बाद में जब उसे बच्चा हो जाता है, तब उस बच्चे को लेकर प्यार-दुलार करने में ही वह अपना समय व्यतीत करती है। और दूसरा कर्म नहीं करना होता, घर-द्वार के कार्य सास, ननद, गोतनी ये सब करती हैं। ईश्वर-लाभ होने पर कर्म करना नहीं होता। मन भी उसमें नहीं लगता। तब केवल उनके ही दर्शन और सेवा करने में आनन्द मिलता है। पहले काम का बड़ा आडम्बर होता है। जितना ही ईश्वर की ओर आगे बढ़ोगे, उतना कर्म का आडम्बर कम होता जायगा। यहाँ तक कि ईश्वर का नाम-गुण-गान तक बन्द हो जाता है। जैसे देखो न, ब्राह्मण-भोजन में पहले खूब शोरगुल होता है। जितना पेट भरता जाता है उतना ही शोरगुल कम होता जाता है। बाद में केवल निद्रा—समाधि।"

"यदि उनके (ईश्वर के) ऊपर प्रीति होती है, तो यह होने पर होम, याग-यज्ञ, पूजा—इन सब कर्मों की अधिक आवश्यकता नहीं रहती। जब तक हवा नहीं मिलती, तब तक ही पंखे की जरूरत होती है। यदि हवा स्वयं बहे तब फिर पंखे की कोई आवश्यकता नहीं होती।"

"जो कुछ कर्म हैं, उनके समाप्त हो जाने से ही निश्चिन्त हुआ जाता

है। गृहिणी घर के काज-कर्म और रसोई-पानी से मुक्त हो, सबको खिला-पिला कर, कंधे पर तौलिया रख कर पोखर के घाट पर देह धोने जाती है। तब फिर रसोई घर की ओर नहीं लौटती—बुलाने पर भी नहीं आती।"

प्रेम के उदय होने से सारे कर्मो का किस प्रकार स्वयं क्षय हो जाता है वह श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के द्वारा कहे गये एक वाक्य में चमत्कार-पूर्ण ढंग से व्यक्त हुआ है। भगवान ने जब गोपियों के यमुनातट का त्याग कर घर लौटने का उपदेश दिया तब उन सबने कहा—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्य कृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलात्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किंवा ॥

भा० १०।२९।३४

"हे प्रिय, हमलोगों का मन तो परम आनन्दपूर्वक घर के कार्यों में आसक्त था, उसकी तुमने चोरी कर ली है। हमलोगों के हाथ सांसारिक कामों में लिप्त थे, वे हाथ अभी अवश हो गये है। और तुम्हारे श्रीचरणों के आश्रय का त्याग कर हमलोगों के पाँव एक डेग भी चलने को तैयार नहीं हैं। अब हमलोग किस प्रकार घर जायें और वहाँ जाकर ही क्या करेंगी ?"

आठवें सूत्र में निरोध कहकर विशेषरूप से त्याग को लक्ष्य किया गया है। उसके होने पर क्या भक्ति में निषेध ही बड़ी बात है ? नहीं, ऐसा नहीं है।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥९॥

[निरोध शब्द के द्वारा] च (और भी) तस्मिन् (ईश्वर में) अनन्यता (भेद-भाव का अभाव) तद्विरोधिषु (ईश्वर-विरोधी विषयों के प्रति) उदासीनता (उदासीन भाव) [समझना होगा] ॥९

प्रेम की अतिशयता मे एकमात्र प्रियतम को लेकर व्याप्त रहने एवं इष्ट विरोधी सारे विषयों के प्रति उदासीनता के भाव को निरोध कहते है ॥६

भक्तों की समस्त इन्द्रियवृत्तियाँ ईश्वरान्मुखी हो जाती हैं, फलस्वरूप भक्त तद्गत हो जाते हैं। इष्ट एवं उनकी सेवा, इन्हें लेकर आनन्द करने के अतिरिक्त भक्त को और कुछ ज्ञान-गोचर नहीं होता। अत वे इष्टमय हो जाते हैं। भक्ति मे इन्द्रियवृत्तियों के निरोध के लिए साधना नहीं करनी होती—वे सब स्वत ही इष्ट की सेवा मे नियोजित हो जाती है।

इस अनन्यता का लक्षण—"ईश्वरीय कथा के अतिरिक्त और कुछ सुनना अच्छा नही लगता, ईश्वरीय कथा के अतिरिक्त और कुछ बोलना अच्छा नहीं लगता। जैसे सातों समुद्र, गंगा-यमुना नदी, सबमे जल रहता है, किन्तु चातक वृष्टि का जल चाहता है। प्यास से छाती फटती जाती है, किन्तु दूसरा जल ग्रहण नहीं करेगा।"

भक्ति के उदय से विरोधी विषयों के प्रति उदासीनता का आना सहज हो जाता है। कितना प्रतिकार किया जाय? और प्रतिकार करने लगने से इष्ट की विस्मृति होती है—'कच्चा मैं' के, राग-द्वेष आदि के प्रभाव में पड़कर कर्म करना पड़ता है। इसी से भक्त इष्ट के भाव मे विभोर होकर बाहर के सुख-दुख के प्रति उदासीन रहते हैं।

भक्त का अपना सुख-दुःख जैसा कुछ नहीं रहता। और भक्त की स्वाधीन इच्छा भी कुछ नहीं रहती—इष्ट की इच्छा के साथ उनकी इच्छा एक हो जाती है।

गृहस्थाश्रम में रहकर भी इस अनन्यता और उदासीनता की प्राप्ति संभव है।

अन्याश्रयाणां त्यागः अनन्यता ॥१०॥

अन्याश्रयाणां (ईश्वर से भिन्न अन्य सारे आश्रयों का) त्याग (त्याग) अनन्यता (एकनिष्ठा भक्ति) [कहा जाता है] ॥१०

ईश्वर से भिन्न अन्य सारे आश्रयों के त्याग को कहा जाता है अनन्यता—एकनिष्ठा भक्ति ॥१०

"त्यागी जन कामिनी-कांचन से मन हटाकर उसे केवल ईश्वर को दे पाते हैं। वास्तविक त्यागी होने पर ईश्वर के अतिरिक्त उनलोगों को और कुछ अच्छा नहीं लगता। विषय-कथा होने पर वे उठकर चले जाते हैं, ईश्वरीय कथा होने पर सुनते हैं। ठीक-ठीक त्यागी होने पर स्वयं ईश्वर-कथा को छोड़कर अन्य बात मुँह में नहीं लाते। मधुमक्खी केवल फूल पर बैठती है—मधु खाने के लिए। दूसरी कोई वस्तु मधुमक्खी को अच्छी नहीं लगती।"

जब किसी एक व्यक्ति का आश्रय ग्रहण करके उससे सारी वासनाओं की पूर्ति नहीं होती—और भी चाहने को, और भी पाने को काफी कुछ विषय बचे रह जाते है, तब मनुष्य अन्य आश्रय की खोज में लग जाता है। किन्तु भक्त देखते है, इष्ट ही उनकी एकमात्र गति, एकमात्र आश्रय हैं। इसीलिए उनके देह-मन की सारी चेष्टाएँ इष्ट को ही आश्रय बनाकर रहती हैं। भक्त देखते हैं—उनका इष्ट ही सभी राजाओं का राजा है, सभी देवताओं का देवता है। इसी से वे किसकी आशा से और किस वस्तु, किस व्यक्ति तथा देवता के पीछे जायेंगे? इसी एकनिष्ठा भक्ति के उदय से भक्त की समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों का निरोध हो जाता है। भक्त सब कुछ इष्टमय देखते हैं।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ गीता ९।१८

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥११॥

लोके (सांसारिक कार्य-समूहों के बीच) [एवं] वेदेषु (वेदविहित कर्म-समूहों के बीच) तदनुकूलाचरणं (जो सब कर्म इष्ट-सेवा के अनुकूल हैं उन्हीं सब कर्मों का आचरण) तद् विरोधिषु उदासीनता (ईश्वर के प्रतिकूल विषय में उदासीनता) [कहा जाता है] ॥११

सासारिक और शास्त्रविहित कर्म-समूहों के बीच जो सब इष्ट-चिन्तन मे सहायक हैं, उन सब कर्मों का अनुष्ठान करने पर ईश्वर के प्रतिकूल विषय-समूहों के प्रति उदासीनता आ जाती है ॥११

नौवें सूत्र मे निषेध के जो लक्षण कहे गये हैं उनमे एक हुआ —इष्ट-स्मरण के विरोधी विषयों के प्रति उदासीनता। किन्तु यह उदासीनता रहने से कोई निषेध नहीं समझना चाहिए, मात्र यह एक विधान है। विधान हुआ—लौकिक और वैदिक जिन सब कर्मों के अनुष्ठान से नित्य उनका स्मरण करने का सुयोग रहता है, प्रेम-भक्ति बढ़ जाती है वे सब कर्म ही भक्त के लिए करणीय हैं। भक्त लोक-प्रचलित या वेद-विहित किसी काम्य कर्म का अनुष्ठान नहीं करेंगे। उस प्रकार का कर्म प्रेम-भक्ति के लाभ का विरोधी है, इष्ट-स्मरण के प्रतिकूल है। किन्तु जिन सब कर्मों के द्वारा भक्ति मे वृद्धि होती है, भक्त उन सब कर्मों का आचरण करेंगे।

किसी लौकिक प्रेम का सम्बन्ध यदि ईश्वर का विस्मरण करा दे तो उसका भी त्याग करना होगा।

"भवनाथ ने कहा, लोगों के साथ मतान्तर रहने से मन कैसा करता है! ऐसा होने से सबको तो प्रेम कर नहीं पाता हूँ।' उत्तर मे श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, 'पहले एक बार बातचीत करके—उन सबके साथ प्रेम करने की चेष्टा करो। चेष्टा करने मे यदि नहीं हो तब फिर वह सब नहीं सोचना। ईश्वर के शरणागत होओ, उनका चिन्तन करो—उनको छोड़कर अन्य लोगों के लिए मन खराब करने की जरूरत नहीं है। क्या किया जाय? यदि दूसरों का मन नहीं पाया गया, तो रात-दिन क्या वही सोचना होगा? जो मन ईश्वर को दूँगा, उस मन को इधर-उधर बेकार खर्च करूँगा? मैं कहता हूँ, माँ, केवल तुम्हें चाहता हूँ। मनुष्य को लेकर क्या करूँगा?"

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्र रक्षणम् ॥१२॥

निश्चयदार्ढ्यात् ऊर्ध्वं (इष्ट-निष्ठा दृढ़ नहीं होने तक) शास्त्र रक्षण (शास्त्र-वाक्यों को मान कर चलना) भवतु (हो) ॥१२

इष्ट-निष्ठा दृढ़ नहीं होने तक शास्त्रों के अनुसार चलना ही उचित होगा ।।१२

जब तक भाव-भक्ति पक्की नहीं होती, तब तक शास्त्रों की बातों को मानकर चलना होगा—शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करना होगा, बलपूर्वक कर्मत्याग नहीं करना है। आश्रम-भेद से कर्म-समूह भिन्न-भिन्न होते हैं। गृही भक्त को गृहस्थाश्रम-विहित उचित एवं संन्यासी को संन्यास-आश्रम-विहित शास्त्रीय कर्म करते रहना होगा।

"सभी क्यों त्याग करेंगे? उपयुक्त समय नहीं होने पर त्याग नहीं होता। बलपूर्वक क्या कोई त्याग कर पाता है? भोग और कर्म का अन्त नहीं होने तक व्याकुलता नहीं आती है।·····"

भक्ति पक्की होने पर भी भक्त कभी-कभी लोकशिक्षा के लिए कर्म करते हैं।

श्रीरामकृष्ण ने स्वयं एक दिन कहा था, "संध्या क्या हो गयी? संध्या होने पर फिर तम्बाकू नहीं पिऊँगा। संध्या होने पर सब कर्मों को छोड़कर हरि-स्मरण करना। शरीर का रोआँ यदि गिना नहीं जाय तो समझना कि संध्या हुई है।"

"जब एक बार हरि या एक बार राम नाम लेने पर रोमांच हो, अश्रुपात हो, तब निश्चयपूर्वक समझो कि संध्यादि कर्म और नहीं करने होंगे। तब कर्म-त्याग का अधिकार हुआ—कर्म का अपने-आप त्याग हो जाता है। तब केवल रामनाम, या हरिनाम, या केवल ॐकार जपने से ही काम हो जायगा। संध्या गायत्री में लय होती है और गायत्री ॐकार में लय होती है।"

"कर्म छोड़ना तो संभव होता नहीं। मैं चिन्तन करता हूँ, मैं ध्यान करता हूँ—यह भी कर्म है। भक्ति-लाभ करने पर विषयकर्म अपने-आप कम हो जाते हैं। और अच्छे नहीं लगते। मिश्री का शरबत पीने पर गुड़ का शरबत कौन पीना चाहेगा?"

"कर्म कितने दिन करना होगा? जितने दिन तक ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जाय। उनको प्राप्त करने पर सब प्राप्त हो जाता है। तब भक्त पाप-पुण्य के पार हो जाता है।"

"ईश्वर-लाभ नहीं होने पर कोई पूर्णतया कर्मत्याग नहीं कर पाता है। फल होते ही फूल झड जाता है। भक्ति है फल और कर्म है फूल।"

शास्त्र के प्रयोजन के सम्बन्ध मे भगवान कहते हैं—'जो शास्त्र-विधि को अस्वीकार कर अपनी इच्छा के अनुसार कर्मों मे प्रवृत्त होते हैं, वे इस जीवन मे पुरुषार्थ या सुख कुछ भी नहीं पाते, शरीर-त्याग करने पर स्वर्ग या मुक्ति नहीं प्राप्त करते। अतएव, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के निर्णय मे शास्त्र ही तुम्हारा नियामक है, शास्त्र का विधान जानकर तुम उसके अनुसार कर्म करो।'

> य शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत ।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुख न परा गतिम् ॥
> तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
> ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्त कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
>
> गीता १६।२३-२४

अन्यथा पातित्याशङ्कया ॥१३॥

अन्यथा (अन्यथा करने पर) पातित्याशङ्कया (पतित हो जाने की आशका है) ॥१३

ईश्वर-लाभ के पहले बल लगाकर कर्म का त्याग करने पर साधन-पथ से भ्रष्ट हो जाने की आशका है ॥१३

बलपूर्वक कर्म का त्याग करने से यथार्थ त्याग नहीं होता। हृदय के आसन पर इष्ट को बैठा नहीं पाने से विषय-वासना उस आसन को जबरदस्ती दखल कर लेगी—भले ही बाहर से कितना भी त्याग का प्रदर्शन क्या न हो। इसीलिए भक्ति के परिपक्व नहीं होने तक भक्ति-लाभ के अनुकूल कर्म करते रहना होगा। घाव के सूखने के पहले जबर्दस्ती पपड़ी छुड़ा कर फेंक देने से घाव तो नहीं मिटता, किन्तु पीडा बढ जाती है।

"पूर्णतया कर्मत्याग करना तो संभव नहीं है। तुम्हारी प्रकृति ही तुमसे कर्म करायगी। भगवान् ने अर्जुन को कहा था—इच्छा करने मात्र से ही तुम युद्ध से निवृत्त नहीं हो पाओगे; तुम्हारी प्रकृति तुमसे युद्ध करायेगी। चाहे तुम इच्छा करो या न करो।"

लोकोऽपि तावदेव भोजनादि व्यापारस्त्वाशरीर धारणावधि ॥१४॥

लोकः अपि (लौकिक कर्मसमूह भी), तावत् एव (तब तक—जब तक भक्ति पक्की न हो तब तक), तु (किन्तु), भोजनादि व्यापारः (आहार आदि दैहिक कर्मसमूह) आशरीरधारणावधि (जब तक शरीर है तब तक रहेंगे) ॥१४

जब तक निश्चय में दृढता और भक्ति में परिपक्वता नहीं आती—तब तक लौकिक कर्मो को करते जाना होगा, किन्तु शरीर की रक्षा के लिए भोजन आदि प्रयोजनीय कर्म, जब तक शरीर है, तब तक रहेंगे ॥१४

बारहवें सूत्र मे देवर्षि नारद ने जब तक भक्ति पक्की नहीं होती तब तक शास्त्रविहित कर्मो के अनुष्ठान की प्रयोजनीयता बतायी है। इस सूत्र में उन्होंने कहा है कि लौकिक आचार आदि का भी बलपूर्वक त्याग करना उचित नहीं है। वेश-भूषा, चाल-चलन आदि कार्यों में हमलोगों को सामाजिक रीति-नीति के साथ तालमेल रखकर चलना होगा, नहीं चलने से निन्दा का पात्र होना होगा। किन्तु जिनकी भक्ति पक्की हो गयी है, उनके लिए इन सब सामाजिक और लौकिक आचार-व्यवहारों को फिर पूरे तौर पर मानकर चलना संभव नहीं है। बल्कि, निष्प्रयोजन एवं किसी-किसी क्षेत्र में इष्ट-चिन्तन मे बाधक समझकर वे इन सबको मानकर नहीं चलते—अधिकांश क्षेत्र में इतना सोच-विचार करने के लिए न तो उनकी मानसिक अवस्था रहती है, न उन्हे इसका अवसर ही रहता है।

ज्ञानी या भक्त को भोजन आदि की भी कोई आवश्यकता नहीं है—इस प्रकार की एक प्रचलित भ्रान्त धारणा को निरस्त करने के लिए श्रीनारद कहते हैं कि जब तक शरीर है तब तक खाना-पीना, मल-मूत्र-त्याग आदि शारीरिक चेष्टाएँ रहती हैं। किन्तु किसी कामना-वासना को लेकर शारीरिक भोगों की

लालसा को मिटाने के लिए वे इन सारे कार्यों में प्रवृत्त नहीं होते। यदि शरीर-धारण के लिए उनकी कोई चेष्टा देखी जाती है तो उसका उद्देश्य है— इष्ट के साथ विलास या जगत की सेवा करना।

श्रीरामकृष्णदेव सर्दैव कमर में वस्त्र लपेट कर नहीं रख पाते थे। कभी खुलकर गिर जाता था अथवा कभी कपड़े बगल में लेकर निकलते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्रह्मसमाज के उत्सव में भाग लेने के लिए आमन्त्रित कर जब उनसे एक कुरता पहनकर आने का अनुरोध किया, तब उन्होंने कहा, 'बाबुओं की तरह सज-धज कर मैं नहीं जा पाऊँगा।'

□

तृतीय अनुवाक

भक्ति के लक्षण और उदाहरण

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नाना मतभेदात् ॥१५॥

मतभेदात् (विभिन्न मतों के अनुसार) **तल्लक्षणाणि** (भक्ति के लक्षण) **नाना** (भिन्न-भिन्न रूप से) **वाच्यन्ते** (कहे गये हैं) ॥१५

विभिन्न मतों के अनुसार भक्ति के भिन्न-भिन्न लक्षण कहे गये है ॥१५

प्रेम और भक्ति—इन दोनों बातो का हमलोग अनेक अर्थो मे प्रयोग करते हैं। सांसारिक सम्बन्ध में भी दोनों बातो का व्यवहार होता है। किन्तु प्रकृत भक्ति जो एकमात्र ईश्वर के प्रति ही सभव है, उसकी चर्चा पहले ही की गयी है। फिर, उसी बात को विशेष भाव से कहने के लिए आलोच्य एवं परवर्ती कुछ सूत्रो की अवतारणा हुई है। साधक भक्तों ने भी दोनों बातों का अनेक अर्थो में प्रयोग किया है, जो जिस विशेष भाव के भावुक है उन्होंने उस भाव की उपयोगी भाषा मे अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने की चेष्टा की है।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य ॥१६॥

पूजादिषु (भगवान की पूजा आदि में) **अनुरागः** (प्रेम), [भक्ति होती है], **इति** (यह) **पाराशर्यः** (पराशरनन्दन वेदव्यास का मत है) ॥१६

पूजा एव उपासनामूलक विविध कर्मो में, अनुराग होने को महर्षि वेदव्यास के मतानुसार भक्ति कहा गया है ॥१६

भक्त चाहते है—तन, मन और वचन द्वारा अपने सर्वस्व का अर्पण कर सर्वदा भगवान की पूजा और सेवा करना। यह पूजा वे किसी विशेष मूर्त्ति का आश्रय लेकर कर सकते है, अथवा निखिल विश्व मे वे (ईश्वर) विराजमान हैं, इस भाव से सभी प्राणियों मे उनकी सेवा कर सकते हैं।

उनकी पूजा मे मन लगाकर रख पाने से फिर मन चचल और विषयोन्मुखी होने का अवसर नही पाता। दो भक्त वधुओं को लक्ष्य कर श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था—"देखो, तुम लोग शिवपूजा करो। कैसे पूजा करनी होगी ? 'नित्यकर्म' नामक पुस्तक है। उस पुस्तक को पढ़कर देख लेना। भगवान की पूजा करने से भगवान के साथ कई क्षणों तक रह पाओगी। फूल तोड़ना, चन्दन घिसना, भगवान के बरतन माँजना, भगवान के जलपान की थाल सजाना—इन सारे कार्यों को करने से इसी ओर मन लगा रहेगा। हीन बुद्धि, राग, द्वेष, हिंसा—ये सब चले जायँगे। तुम दोनो जब क्या कहोगी, तब भगवान की ही कथा-वार्ता कहना।

किसी भी प्रकार से भगवान मे मन का योग करना चाहिए। एक बार भी उन्हें भूला नही जाय। जिस प्रकार तेल की धारा होती है। उसके भीतर खड नही होता। एक ईंट या पत्थर को ईश्वर मानकर यदि भक्तिभाव से उसकी पूजा करो, तो उससे भी ईश्वर की कृपा से उनके दर्शन हो सकेंगे।

पहले जो कहा है—शिवपूजा, यह सब करनी होगी। इसके बाद भक्ति पक्की हो जाने पर अधिक दिनों तक पूजा नही करनी होगी। तब सर्वदा ही मन का योग बना रहता है, सर्वदा स्मरण-मनन होता रहता है।"

"अधिकारी के भेद से विभिन्न प्रकार की पूजा का उन्होंने (ईश्वर ने) ही आयोजन किया है।"

बाह्य एव मानस—इन दो प्रकार की पूजा ही प्रयोजनीय है। बाह्य पूजा का सुयोग सब समय नही होता, किन्तु, मानस पूजा सर्वदा हो सकती है। जप भी पूजा का एक विशेष अंग है। इस सूत्र में विशेष भाव से कायिक सर्वविध सेवा, पूजा, उपासना की बात लक्ष्य की गयी है।

"ईश्वर मे मन के योग का अभ्यास करना होगा। पूजा, जप, ध्यान—इन सबका नियमित अभ्यास करना होगा।"

कथादिष्विति गर्गः ॥१७॥

कथादिषु (भगवान की कथा में—नाम-श्रवण और कीर्तन में) [अनुराग होना भक्ति का लक्षण है], इति (यह) गर्गः (ऋषि गर्ग) [कहते हैं] ॥१७

महर्षि गर्ग के मतानुसार भगवान के नाम-श्रवण एवं कीर्तन में अनुराग होना भक्ति का लक्षण है ॥१७

इस सूत्र में विशेष रुप से वाचिक उपासना की बात कही गयी है। 'बात' कहने से हर प्रकार की वाचिक उपासना समझनी होगी। भगवद्-विषयक संगीत, ग्रंथादि की रचना भी इसी वाचिक उपासना के अंतर्गत है।

एक दिन संकीर्तन के उपरान्त श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था—'यही कार्य हुआ, और सब मिथ्या है। प्रेमा-भक्ति वस्तु है और सब अवस्तु है।"

"भक्ति ही सार है। उनका नामगुण-कीर्तन सर्वदा करते-करते भक्ति-लाभ होता है। हाजरा ने कहा, 'उनकी पूजा कर क्या होता है! उनकी ही वस्तु उन्हें देना! भक्त अपने-आपको ही पुकारता है।' उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा—"तुम जो कहते हो, इसी के लिए साधन-भजन, उनका नाम-गुणगान होता है। अपने भीतर अपने को देख पाने से सब कुछ उपलब्ध हो गया। इसे देख पाने के लिए ही साधना करनी होती है। और इसी साधना के लिए शरीर है····वे केवल भीतर ही नहीं हैं, भीतर-बाहर सर्वत्र हैं। कालीघर में माँ ने मुझे दिखाया कि सभी चिन्मय हैं। माँ ही सब हो गयी है। प्रतिमा, कोशा-कुशी, पूजा की थाली, जल-पात्र, चौकठ, संगमरमर सब चिन्मय है।

इसी को साक्षात् करने के लिए ही उनको पुकारना—साधन-भजन, उनका नाम-गुण कीर्तन आदि करने होते है। इसके लिए ही उनकी भक्ति करनी होती है।"

> वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
> वक्तारं प्रच्छकं श्रोतृं स्तत्पाद सलिलं यथा॥ [भा० १०।१।१६]

इद हि पुंसस्तपस श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयो ।
अविच्युतोऽर्थ कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोक - गुणानुवर्णनम् ॥ [भा० १।५।२२]

'श्री भगवान के चरणों से निःसृत गगाजल जिस प्रकार सबको पवित्र करता है, उसी प्रकार भगवान की कथा-विषयक प्रश्न वक्ता, प्रश्नकर्त्ता एव श्रोता—तीनों को पवित्र करता है।'

'पण्डितगण कहते हैं, भगवान के गुण एव लीला के वर्णन से मनुष्य की सारी तपस्याओं, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, ज्ञान और दान की सार्थकता सम्पादित होती है।'

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य ॥१८॥

आत्मरत्यविरोधेन (आत्मरति के अविरोधी विषयों के प्रति), [अनुराग का नाम भक्ति है], इति शाण्डिल्य (यह शाण्डिल्य का मत है) ॥१८

महर्षि शाण्डिल्य के मत से आत्मरति के अविरोधी विषयों के प्रति अनुराग का नाम भक्ति है ॥१८

विषय-वासना का पूर्णतया नाश होने पर ही आत्मरति—एकमात्र आत्मा में ही प्रीति होना सम्भव है। और, वासना का नाश पूर्णत मानसिक व्यापार है। चौबीसों घंटे में पूजा, कीर्तन, स्तुति में दिन व्यतीत कर सकता हूँ, किन्तु इससे भी वस्तुत मेरे अन्तर में यथार्थ भक्ति नहीं हो सकती है। इसी से शाण्डिल्य कहते हैं, उसी को यथार्थ भक्ति कहूँगा जिसमें आत्मरति के विरोधी विषयों का लेशमात्र नहीं हो। उस अवस्था में अपने को देहातीत आत्मा मानकर सवदा यथार्थ अनुभव रहेगा और भगवान भी आत्मरूप से सभी भूतों में उपस्थित हैं—यह बोध भी पक्का होगी। भक्ति जिस विशेष भाव से मानस व्यापार है, इस सूत्र में उसे ही कहा गया है।

श्रीरामकृष्णदेव अपनी साधनावस्था की कथा का वर्णन करते हुए कहते हैं, "देखा, मैं उन दिनों अनुभव करता था, भगवान मानो समुद्र के जल की भांति सभी स्थानों पर पूर्ण रूप में रहते हैं और मैं जैसे एक

मछली हूँ—उस सच्चिदानन्द सागर में डूबता हूँ, बहता हूँ, तैरता हूँ। ठीक ध्यान होने पर इसे सच-सच देखोगे। फिर कभी-कभी मन में होता, मैं जैसे एक घड़ा हूँ, उस जल में डूबा रहता हूँ, और मेरे भीतर-बाहर वही अखण्ड सच्चिदानन्द पूर्ण होकर रहते हैं।

कभी कहता—तुम ही मैं हो और मैं ही तुम हूँ, फिर कभी 'तुम ही तुम' हो जाता, तब 'मैं' नहीं रहता।"

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति ॥१९॥

तु (किन्तु) नारदः (नारद) [कहते हैं] तदर्पिताखिलाचारतः (भगवान में **आत्मसमर्पण और समस्त कर्मों का फल-समर्पण**) [एवं]' **तद्विस्मरणे** (उनके **विस्मरण से**), परम व्याकुलता (एकान्त व्याकुलता), **इति** (यह भक्ति का **लक्षण है**) ॥१९

देवर्षि नारद के मत से तन-मन-वचन के द्वारा जो कुछ अनुष्ठित होता है उसे सर्वदा इष्ट के चरणों में समर्पण करना एवं एक क्षण के लिए भी इष्ट का विस्मरण होने से एकान्त व्याकुल होना भक्ति का लक्षण होता है ॥१९

पूर्ववर्ती तीन सूत्रों में भक्ति के एक-एक भाव के ऊपर विशेष भाव से जोड़ दिया गया था। इस सूत्र में नारद ने उन सबको ग्रहण कर भक्ति की सर्वाङ्ग सम्पूर्ण संज्ञा प्रदान की है। जीवन के सारे कर्म—पूजा, जप, कीर्तनादि जिन सारे कर्मों को हमलोग साधारणतः साधना के अंग के रूप में ग्रहण करते हैं, केवल ये ही कर्म नहीं—ईश्वर में समर्पित करना भक्ति का लक्षण है। सभी कर्मों के बीच भक्त नित्य उनका (ईश्वर का) स्मरण करेंगे, और क्षणमात्र के लिए उन्हें भूलने पर अपने हृदय में तीव्र यातना का अनुभव करेंगे। उन्हें भूलने से ही तो मन तुच्छ विषयों में रत होता है।

"ईश्वर में प्रीति होने पर केवल उनकी कथा कहने की ही इच्छा होती है। जो जिसे प्रेम करता है, उसकी कथा सुनना और कहना उसे अच्छा लगता है।"

"शुद्ध भक्त और कुछ नहीं चाहते, उन्हें और कुछ अच्छा नहीं लगता। उन सबकी गति केवल ईश्वर की ओर होती है। एक प्रकार की पंखवाली चींटी होती है, वह प्रकाश देखते ही उस ओर दौड़ पड़ती है, वह उस पर प्राण दे देती है, फिर भी अन्धकार की ओर पुनः लौट कर नहीं जाती। उसी प्रकार जो लोग भगवान के भक्त होते हैं, वे जहाँ साधु रहते हैं और ईश्वर की कथा होती है, वहाँ दौड़ पड़ते हैं, साधन-भजन छोड़कर संसार के असार पदार्थ में फिर बँधते नहीं।"

"जब वे (ईश्वर) मुक्ति देंगे तभी उन्हें (ईश्वर को) पाने के लिए व्याकुलता देते हैं। नौकरी छूट जाने पर किरानी की जैसी व्याकुलता होती है, वह जिस प्रकार रोज दफ्तर-दफ्तर घूमता और जिज्ञासा करता है—'हाँ जी, कोई भी काम खाली हुआ है?' व्याकुलता होने पर छटपट करता है—किस तरह ईश्वर को पाऊँगा।"

"मूँछ पर ताव दे, पाँव पर पाँव रखकर बैठे हुए हैं, पान चबा रहे हैं, कोई भावना नहीं है, इस प्रकार की अवस्था होने पर ईश्वर-लाभ नहीं होता।"

भक्त चाहते हैं सभी कार्यों के बीच उन्हें ही देखना, उन्हीं की सेवा करना। "कृष्ण के मथुरा जाने पर यशोदा राधिका के समीप आयी थी। श्रीमती राधा ध्यानस्थ थी। तदुपरान्त वे यशोदा से बोली, 'कृष्ण चिदात्मा हैं और मैं चित्शक्ति। तुम कुछ वरदान माँग लो।' यशोदा बोली, 'मुझे ब्रह्मज्ञान नहीं चाहिए, तब यह वर दो जिसमें कायमनोवाक्य से उनकी ही सेवा कर पाऊँ, जैसे इन आँखों से उनके भक्तों के दर्शन हों, इस मन से उनका ध्यान-चिन्तन और वाक्य के द्वारा उनका नाम-गुणगान जिसमें हो सके और जिसमें सर्वदा कृष्ण-भक्तों का संग मिल सके।"

"भक्ति पक्की होने पर सभी अवस्थाओं में इष्टदर्शन होते हैं। आँख खुली रहने पर भी ध्यान होता है, कथा कहते-कहते भी ध्यान लग जाता है। जैसे किसी के दाँत में दर्द है। वह सारे कर्म करता है, किन्तु उसी पीड़ा की ओर उसका मन रहता है। मैं भी पहले आँखें मूँद कर ध्यान करता था।

बाद में सोचा, आँख मूँदने पर ईश्वर हैं और आँख खोलने पर ईश्वर नहीं? आँखें खुली रहने पर भी देखता हूँ कि वे (ईश्वर) सभी भूतों में निवास करते हैं।"

अस्त्येवमेवम् ॥२०॥

एवम् एवम् (इस प्रकार ही), अस्ति (है) ॥२०

भक्ति के जो लक्षण दिये गये हैं, वे केवल बात की बात नहीं हैं। भक्त के जीवन में ऐसी भक्ति का परिपूर्ण प्रकाश देखा जाता है ॥२०

भक्त केवल उन्हें (ईश्वर को) ही चाहते हैं। श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं— "मैंने उनसे केवल भक्ति चाही थी। हाथ में फूल लेकर माँ के पाद-पद्मों में अर्पित कर कहा था, यह लो अपना पाप, यह लो अपना पुण्य—मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो अपना ज्ञान, यह लो अपना अज्ञान—मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो अपनी शुचि, यह लो अपनी अशुचि—मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो अपना धर्म, यह लो अपना अधर्म, मुझे शुद्धा भक्ति दो।"

भगवान कपिल अपनी माता देवहूति को कहते हैं—

> निषेवितानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
> क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः॥
> मद्धिष्ण्य-दर्शन-स्पर्श-पूजा-स्तुत्यभिवन्दनैः।
> भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च॥
> महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया।
> मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च॥
> आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्तनाच्च मे।
> आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा॥
> मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः।
> पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्॥
>
> भा० ३/२९-१५-१९

'श्रद्धापूर्वक निष्काम भाव से नित्य नैमित्तिक कर्म एवं हिंसारहित क्रिया योग का अनुष्ठान, मेरी प्रतिमा का दर्शन-स्पर्शन, पूजा -स्तुति और वन्दन, समस्त प्राणियों में मेरा दर्शन करना, धैर्य और वैराग्य का अवलम्बन, महापुरुषों का मान-दान, दीनों के प्रति दया एवं समावस्थापन्न व्यक्ति के साथ मित्रवत् व्यवहार, यम और नियम का पालन, अध्यात्मशास्त्र का श्रवण, मेरा नाम-संकीर्तन, सरलता, साधुसङ्ग और अहंकार का त्याग—इन सारे साधना के द्वारा भागवतधर्म का पालन करने वाले भक्त का चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है। फलत, मेरे गुणों की कथा के श्रवणमात्र से उसका चित्त मुझमें लीन हो जाता है।"

यथा ब्रजगोपिकानाम् ॥२१॥

यथा (जिस प्रकार) ब्रजगोपिकानाम् (ब्रज की गोपियों का) [यह प्रेम का दृष्टान्त है] ॥२१

ईश्वर के प्रति इस प्रकार के प्रेम होने का दृष्टांत ब्रज की गोपिया है ॥२१॥

"अहा, गोपियों का कैसा प्रेम है! रासलीला के क्रम में जब श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये, तब गोपियाँ पूर्णतया उन्मादिनी हो गयीं। वृक्ष को देखकर कहतीं—'लगता है तुम तपस्वी हो, श्रीकृष्ण को अवश्य ही देखा है! ऐसा नहीं होने पर इस प्रकार निश्चल, समाधिस्थ होकर रहते हो क्यों? दूब से आच्छादित धरती को देखकर कहती—'हे पृथ्वी, तुमने निश्चय ही उनके दर्शन किये हैं, नहीं तो तुम रोमांचित होकर क्यों रहती हो? निश्चय ही तुमने उनके स्पर्शसुख का भोग किया है।' फिर माधवीलता को देखकर कहती—'ऐ माधवी, हमें माधव दे दो।' गोपियों का यह प्रेमोन्माद है।"

"जब अक्रूर और श्रीकृष्ण तथा बलराम मथुरा जाने के लिए उनके रथ पर बैठे, तब गोपियों ने रथ का चक्का पकड़ लिया। वे उन्हें जाने नहीं देती।"

"श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियाँ विरह से व्याकुल हो उठीं। भगवान ने उनकी हालत जानकर उद्धव को उन्हें समझाने-बुझाने भेजा। उद्धव

ज्ञानी थे न ! वृन्दावन के लोगों के रोने-पीटने, खिलाने-पहनाने आदि के भाव को उद्धव समझ नहीं पाते थे। गोपियों के शुद्ध प्रेम को वे मायिक और हीन समझते थे। उन्हें देख-सुनकर उद्धव को शिक्षा मिलेगी, यह भी श्रीकृष्ण का उद्‌देश्य था।"

"उद्धव जब वृन्दावन गये तब गोपियाँ और ग्वाल-बालगण उन्हें देखने के लिए आकुल होकर दौड़ पड़े। सभी जिज्ञासा करते हैं, श्रीकृष्ण कैसे हैं, वे क्या हमलोगों को भूल गये है ? यह कह कर कोई गोपी रोने लगी। कोई-कोई उन्हें लेकर वृन्दावन में श्रीकृष्ण की लीला के विभिन्न स्थान दिखाने लगी। तब उद्धव ने कहा, 'तुम सब 'कृष्ण-कृष्ण' रट कर इतना कातर क्यों होती हो ? जानती तो हो कि वे भगवान हैं, सर्वत्र हैं। वे मथुरा में हैं और वृन्दावन में नहीं—ऐसा तो हो नहीं सकता है।' गोपियों ने कहा, 'हमलोग यह सब नहीं समझतीं, तुम कृष्ण-सखा हो, ज्ञानी हो, तुम यह सब कैसी बातें करते हो ? हम सब क्या ध्यानी हैं या ज्ञानी, या ऋषि-मुनियों की भाँति जप-तप कर उन्हें पाया है ? हमलोगों ने जिन्हें साक्षात रूप से सजाया-सँवारा है, खिलाया-पहनाया है, उनके लिए अब ध्यान कर यह सब करने जायँगी ? हमलोग क्या वह सब कर पायेंगी ? जो मन देकर ध्यान-जप करेंगी, वह मन हमलोगों का रहने पर ही तो वह देकर यह सब करेंगी। वह मन तो, बहुत दिन हुए, श्रीकृष्ण के पाद-पद्मों में अर्पण कर दिया है। हमारा कहकर हमलोगों को और क्या है कि उस अहं बुद्धि से जप करेंगी ?"

"उद्धव तो सुन कर ही अवाक् हो गये ! तब उन गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति जो प्रेम है वह कितना गंभीर है और वह प्रेम क्या वस्तु है यह समझकर उन्हें प्रणाम कर वे चले गये।"

"वृन्दावन लीला के मध्य तुमलोग श्रीकृष्ण के प्रति श्रीमती के मन का आकर्षण ही देखो—ईश्वर में मन का इस प्रकार आकर्षण नहीं होने पर उन्हें पाया नहीं जा सकता। कामगन्ध से रहित नहीं होने पर महाभावमयी श्रीराधा के भाव को समझा नहीं जा सकता। देखो, गोपियाँ स्वामी-पुत्र, कुल-शील, मान-अपमान, लज्जा-घृणा, लोकभय-समाजभय—सब छोड़कर

श्रीकृष्ण के लिए कितनी दूर तक उन्मत्त हो उठी थी ! ऐसा कर पाने पर ही ईश्वर-लाभ होता है। सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण को देखते ही गोपियों के मन में कोटि-कोटि रमण से अधिक आनन्द उपस्थित हो देह-बुद्धि का लोप हो जाता था। तुच्छ देह का रमण क्या तब उन सबके मन में और उदित हो पाता था, रे ?

"गोपियों का प्रेम—परकीया प्रेम था। कृष्ण के लिए गोपियों को प्रेमोन्माद हुआ था। अपने पति के प्रति इतना नहीं होता है। अगर कहो कि उन्हें (भगवान् को) देखा नहीं, फिर उनके ऊपर किस प्रकार गोपियों की भांति प्रेम होगा ? तो वह सुनने से भी प्रेम होता है—नहीं जानने पर, कान से नाम सुनने पर भी, मन उसमें लिप्त हो जाता है।"

गोपियों के प्रेम की गभीरता कैसी थी ? उसका उनलोगों के प्रति श्रीकृष्ण के एक वाक्य में ही अनुमान किया जा सकता है।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां, स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

भा० १०/३२/२२

'तुमलोगों ने दुर्जर गृहशृंखला को तोड़ कर मेरे प्रति जो निर्मल प्रेम दिखलाया है, देवताओं की भांति आयु प्राप्त करने पर भी मैं उस सुदीर्घ जीवनभर तुमलोगों के प्रेम का ऋण चुका नहीं पाऊँगा। तुम सब अपनी उदारता के गुण से मुझे ऋण मुक्त कर सकती हो।'

गोपियों को सान्त्वना देने के लिए उद्धव को मथुरा से वृन्दावन भेजने के समय भगवान ने कहा था—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥

भा० १०/४६/४—६

"गोपियों के मन-प्राण-देह सब कुछ मुझमें समर्पित है। मेरे लिए जो लौकिक सभी धर्मो, सभी आचारों का त्याग करते है, उनका मैं पालन करता हूँ। मैं गोपियों का परमप्रिय हूँ। मेरे दूर चले आने के फलस्वरूप वे सब मेरे विरह में मेरे लिए उत्कण्ठा से अत्यन्त व्याकुल हो गयी हैं; मेरा स्मरण कर बार-बार मूच्छित हो जाती है। मेरे लौट आने के समाचार की आशा में वे सब अत्यन्त कष्टपूर्वक किसी प्रकार प्राण धारण कर रह रही है।"

कंस की राजसभा में चानूर मुष्टिक के साथ युद्ध के समय श्रीकृष्ण के दर्शन कर मथुरा में वास करने वाली स्त्रियाँ गोपियों के सौभाग्य की प्रशंसा करती हैं।

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितो - क्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रम-चित्तयानाः ॥

भा० १०/४४/१५

'व्रज की गोपियाँ धन्य है। उन सबका चित्त सदैव कृष्णमय हो गया है। वे सब गौ-दोहन, दधिमथन, धान कूटना, घर लीपना, बच्चों को झुलाना और उन सबको स्नान कराना आदि सभी कामों को करने के समय श्रीकृष्ण के गुण-गान में नित्य मत्त रहती हैं। प्रेम के वशीभूत हो सर्वदा उन सबके नेत्रों से अश्रुपात होता रहता है उन सबका कण्ठ गद्-गद् रहता है।"

गोपियों के प्रेम के सम्बन्ध में भगवान ने अन्यत्र उद्धव को कहा है—

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥

भा० ११/१२/१२

'समाधि के समय मुनिगण जिस प्रकार नाम-रूप भूल जाते है, नदियाँ जिस प्रकार समुद्र में मिलकर अपनी सत्ता खो देती हैं, उसी प्रकार गोपियाँ भी परम प्रेम के वशीभूत होकर मुझमें इस प्रकार तन्मय हो उठी थी कि उन सबको

अपना शरीर, प्रिय पति-पुत्रादि और संसार का सब कुछ विस्मृत हो गये थे।'

न तत्रापि माहात्म्यज्ञान-विस्मृत्यपवाद ॥२२॥

तत्र अपि (गोपियों के भीतर भी) माहात्म्यज्ञान-विस्मृत्यपवाद (भगवान के माहात्म्यज्ञान की विस्मृति हुई थी, यह अपवाद)न (यथार्थ नहीं है) ॥२२

कृष्णप्रेम में उन्मादिनी होने पर भी ब्रज की गोपियों के द्वारा श्रीकृष्ण का माहात्म्यज्ञान—चूँकि वे लीला के लिए मनुष्य-देह धारण करने वाले स्वयं भगवान थे—विस्मृत हुआ था, इस प्रकार का अपवाद करना उचित नहीं ॥२२

'काम प्रेम से भिन्न है, यह २२ वें से २५ वें सूत्र तक में दिखाया गया है। ऐश्वर्यज्ञान रहने पर भय-संकोच आता है। इससे लौकिक प्रेम में अर्थात् काम में प्रेमी में ऐश्वर्यज्ञान प्रबल रहने पर प्रेमिका और प्रेमी का आन्तरिक भाव से मिलन नहीं हो पाता है। गोपियां कृष्ण को ब्रह्म-रूप में जानकर भी आस्वादन के लिए माधुर्यभाव लेकर रहती थीं। "गोपियों का भी ब्रह्मज्ञान था। किन्तु वे ब्रह्मज्ञान चाहती नहीं थीं। उनमें कोई वात्सल्यभाव में, कोई सख्यभाव से, कोई मधुरभाव से, कोई दासीभाव से ईश्वर का भोग करना चाहती थीं।"

गोपियाँ श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान समझती थीं, इसका प्रमाण उन सबके अपने मुख का वचन है।

> न खलु गोपिकानन्दनो भवान्
> अखिल - देहिनामन्तरात्मदृक्।
> विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
> सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥
>
> भा० १०/३१/४

'हे प्रिय, आप केवल यशोदा के ही पुत्र नहीं हैं, बल्कि समस्त प्राणियों

की आप अन्तरात्मा हैं। ब्रह्मा की प्रार्थना से संसार के पालन के लिए आपने यदुकुल में अवतार लिया है।'

तद्विहीनं जाराणामिव ॥२३॥

तद्विहीनं (भगवान के माहात्म्यज्ञान से रहित जो प्रेम है वह) जाराणाम् इव (वेश्याओं के प्रेम की भाँति है) ॥२३

माहात्म्यज्ञान से रहित प्रेम कुलटा नारियों के द्वारा उपपति के प्रति आसक्ति के समान माना जाता है ॥२३

माहात्म्यज्ञान नहीं रहने पर गोपियों का प्रेम भ्रष्टा नारियों के द्वारा परपुरुष के प्रति आसक्ति की भाँति काम में पर्यवसित होता।

तब स्वरूपज्ञान नहीं रहने पर क्या भगवान को प्रेम करना, उनकी पूजा करना बिल्कुल संभव नहीं है? ऐसा होने पर साधारण अज्ञानी जीवों का क्या उपाय है? नहीं, ऐसा नहीं है। उन्हें जिस प्रकार भी हो, पुकार पाने और प्रेम कर पाने पर उसका फल निश्चयपूर्वक होगा ही। किन्तु, ज्ञानपूर्वक प्रेम करने से उसका विशेष फल होता है। काम और प्रेम में भेद—जीवों के प्रेम के साथ गोपियों के, प्रकृत भक्तों के प्रेम का पार्थक्य आगे के सूत्रों में दिखाया जायगा।

सांसारिक प्रेम और भगवत्प्रेम के पार्थक्य के सम्बन्ध में महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं—

हेया रागत्वात् इति चेत्, न, उत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत् ॥२१ सूत्र

भक्ति अनुरागात्मिका होती है, और अनुराग दुःख का कारण होता है। तब क्या भक्ति हेय है, त्याज्य है? नहीं, ऐसा नहीं है। सत्संग में जिस प्रकार दुःख नहीं है, उसी प्रकार भक्ति द्वारा पुरुषोत्तम का संग-लाभ होता है। अतः भक्ति आश्रयनीय होती है।"

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुख-सुखित्वम् ॥२४॥

तस्मिन् (काम में, नायक-नायिका के अनुराग में) तत्सुख-सुखित्वम् (प्रेमास्पद के सुख से सुखी होना) नास्ति (नहीं) ॥२४

काम में केवल आत्मसुख की वासना रहती है—उसमें प्रियतम के सुख से सुखी होने का लक्ष्य नहीं रहता ॥२४

काम और प्रेम के प्रमुख भेद का यहाँ वर्णन है। काम में केवल आत्मसुख का प्रयास होता है, प्रेम में स्वार्थपरता के नाम की गंध तक नहीं होती। काम और प्रेम की पृथकता का 'श्री श्रीचैतन्य-चरितामृत' नामक ग्रन्थ में वर्णन हुआ है—

> आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा, तार नाम काम।
> कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा, धरे प्रेम नाम॥
> कामेर तात्पर्य निज सम्भोग केवल।
> कृष्ण-सुख-तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
> आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार।
> कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार॥
> लोकधर्म वेदधर्म देहधर्म कर्म।
> लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख मर्म॥
> सर्वत्याग करये करे कृष्णेर भजन।
> कृष्ण-सुख-हेतु करे प्रेमेर सेवन॥
> इहारे कहिये कृष्णे दृढ अनुराग।
> स्वच्छ धौत वस्त्र जैसे नाहि कोनो दाग॥
> अतएव काम प्रेमे बहुत अन्तर।
> काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥
> अतएव गोपीगणे नाहि कामगन्ध,।
> कृष्ण-सुख-हेतु मात्र कृष्णेर सम्बन्ध॥

"कृष्ण के सुख में सुखी, मेरा जो हो, तुम सुखी रहो। यही सबसे ऊँची अवस्था है। गोपियो का यही बड़ा ऊँचा भाव है।"

"गोपियों की प्रेमाभक्ति थी। अहंता और ममता ये दो चीजें प्रेमाभक्ति में रहती हैं। अहंता यानी मैं यदि कृष्ण की सेवा नहीं करूँ तो उन्हें कष्ट होगा। यहाँ ईश्वर-बोध नहीं रहता। और ममता यानी 'मेरा-मेरा' करना। श्रीकृष्ण के पाँवों में काँटे चुभ जायेंगे इसलिए गोपियों का सूक्ष्म शरीर उनके चरणों के तले रहता था। गोपियों को इतनी ममता थी।"

प्रत्येक क्षण ईश्वर-बोध के प्रबल रहने पर फिर आत्मवत् सेवा नहीं हो पाती—विशेषतः वात्सल्य और मधुर भाव की सेवा नहीं हो पाती। इसी से कहते हैं—'यहाँ ईश्वर-बोध नहीं रहता।'

□

चतुर्थ अनुवाक

परा भक्ति का महत्त्व

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥२५॥

सा (पराभक्ति) **तु** (किन्तु) **कर्मज्ञानयोगेभ्य** (कर्म, ज्ञान एव योग से) **अपि अधिकतरा** (श्रेष्ठा) ॥२५

यह पराभक्ति कर्म, ज्ञान एव योग से भी श्रेष्ठ है ॥२५

पराभक्ति कर्म, ज्ञान एव योग से भी श्रेष्ठ है। क्यों श्रेष्ठ है, इसे आगे के सूत्र में विशेष प्रकार से कहा गया है। एक है साधन-भक्ति और दूसरी है साध्यभक्ति। यहा साध्यभक्ति की बात कही गयी है। समस्त साधन पथों की साध्यवस्तु होती है परमानन्द की प्राप्ति। भक्ति होती है परमानन्द स्वरूप साध्यवस्तु। जो प्रेम साध्यवस्तु का परिपूर्ण अनुभूति-स्वरूप है उसके साथ किसी साधनपथ की तुलना हो नही पाती। फिर, साधना की दृष्टि से भी भक्ति कर्म, योग और ज्ञान से श्रेष्ठ है।

"ज्ञानयोग या कर्मयोग तथा अन्य पथो के द्वारा भी ईश्वर के समीप जाया जाता है, किन्तु भक्तिपथ के द्वारा उनके निकट सहज ही जाया जाता है। जो ब्रह्मज्ञान चाहते हैं, वे यदि भक्तिपथ का अवलम्बन कर चलते हैं तो ऐसा करने पर भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं हैं कि भक्त एक जगह जायेंगे और ज्ञानी या कर्मयोगी किसी एक अन्य जगह जायेंगे। भक्त-वत्सल भगवान इच्छा करने से ब्रह्मज्ञान दे देते हैं। ईश्वर यदि प्रसन्न हों तो वे शक्ति भी देते है, ज्ञान भी देते हैं।"

यहाँ साधनज्ञान के साथ शुद्धाभक्ति की तुलना हुई है। नही तो, "शुद्ध ज्ञान और शुद्धाभक्ति एक हैं। शुद्धज्ञान जहाँ ले जाता है शुद्धभक्ति भी वहाँ ले जाती है।"

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराने के बाद कहते हैं—

> नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
> शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
> (गीता ११-५३-५४)

'तुमने मेरे जिस रूप का दर्शन किया है उसका वेदपाठ, तपस्या, दान या यज्ञ के द्वारा दर्शन करना सम्भव नहीं है। हे अर्जुन, केवल मात्र अनन्य भक्ति के द्वारा मुझे जानने, मेरे स्वरूप का प्रत्यक्ष रूप से दर्शन करने एवं मुझमें अवस्थितिरूप मुक्ति का लाभ करने में भक्तगण समर्थ होते है।'

उद्धव से वे कहते हैं—

> यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
> योगेन दानधर्मेन श्रेयोभिरितरैरपि ॥
> सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
> स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वांछति ॥
> भा० ११।२०।३२-३३

'कर्म तपस्या ज्ञान वैराग्य योगाभ्यास दान एवं अन्यविध श्रेयः साधन-समूहों के द्वारा जो कुछ फल पाये जाते हैं, मेरे भक्त भक्तियोग के द्वारा उन सबको अनायास ही प्राप्त करते है। यदि चाहें तो स्वर्ग, मुक्ति अथवा मेरे धाम को भी प्राप्त कर सकते है; किन्तु भक्त इन सब के अभिलाषी नहीं होते।'

फलरूपत्वात् ॥२६॥

[भक्ति स्वयं] फलरूपत्वात् (फलरूपा होने से) [अन्य सारे साधनों से श्रेष्ठ है] ॥२६

भक्ति स्वय फलरूपा होने के कारण अन्य सभी साधनों से श्रेष्ठ है ॥२६

आनन्द की प्राप्ति के लिए जीव नित्य दौड-धूप करता है। इस आनन्द की प्राप्ति के लिए ही सारे कर्म, सारे साधन-भजन होते हैं। किन्तु कर्म के द्वारा जिस फल का उद्भव होता है, भोग के द्वारा उस फल का अवसान हो जाता है। अहं का आश्रय लेकर जितने कर्म होते हैं वे सारे ही परिणामी और विनाशशील होते हैं।

कामिनी-कांचन का जब त्याग हो जाता है, अहं का जब नाश हो जाता है, तब जीव को परमानन्द की प्राप्ति होती है। इस आनन्दस्वरूप को भूल जाने के कारण ही इतने दुःख हैं। कर्म, ज्ञान, योग आदि इसी आनन्दस्वरूप में लौट जाने के विभिन्न उपाय मात्र हैं—वस्तुलाभ के बाद फिर इन सबकी आवश्यकता नहीं रहती। पराभक्ति में इस आनन्दस्वरूप में नित्य अवस्थिति होती है। यह किसी उपाय के द्वारा प्राप्त होनेवाला पदार्थ नहीं है।

नारद ने जो पराभक्ति को मात्र 'फल' नहीं कह कर 'फलरूपा' कहा, उसकी विशेष सार्थकता है। कर्म या साधनसापेक्ष फलमात्र अनित्य हैं, किन्तु भक्ति नित्य है। जीव को अपने आनन्दस्वरूप की यथार्थ उपलब्धि होने पर पुनः उससे गिरने की आशंका नहीं रहती। इसी कारण भक्ति श्रेष्ठ है।

गीता में भगवान् ने कहा है—विचार और साधना के फलस्वरूप जब चित्तशुद्धि होती है, इन्द्रियों की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, तब जीव को भक्ति की प्राप्ति होती है। इसी से भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग का फल कहा गया है।

> बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
> शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
> विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
> ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
> अहङ्कारं बलं* दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
> विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

*बलं बलवतां चाहम् कामराग-विवर्जितं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तावतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
गी० १८।५१।५५

'जिस साधक की बुद्धि शुद्ध हो गयी है, जिन्होंने धैर्य के साथ देह और इन्द्रियों को सयत कर लिया है, जिन्होंने शब्दादि विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) एवं राग और द्वेष को त्याग दिया है, जो निर्जन वासी, मिताहारी हैं, जिनके वाक्य, देह और मन अपने वशीभूत है, जो वैराग्यवान् और ध्यान निरत है और जो अहंकार, वल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग कर ममतारहित और शान्त हो गये है, वे ब्रह्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ हैं। ब्रह्मभाव को प्राप्त और प्रशान्तचित्त साधक किसी वस्तु के लिए शोक नहीं करते, किसी वस्तु की कामना नहीं करते; वे सभी जीवों के प्रति समदर्शी होते हैं एवं मुझसे पराभक्ति लाभ करते है। इसी भक्ति के द्वारा वे मेरे स्वरूप से अवगत होते है एवं मुझमें प्रवेश करते है।'

"ईश्वर को प्रेम करना, यही सार है। भक्ति ही सार है।"

"भक्ति ही सार है। सच्चे भक्त को किसी तरह का भय और चिन्ता नहीं होती।"

ईश्वरस्यापि अभिमानद्वेषित्वात् दैन्य प्रियत्वात् च ॥२७॥

च (एवं) ईश्वरस्य अपि (ईश्वर का भी) (अभिमान द्वेषित्वात्) अभिमान के ऊपर द्वेषभाव रहने के कारण (एवं) दैन्य प्रियत्वत् (दीनता के प्रति प्रीति रहने के कारण) [कर्म, योग और ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ है]।२७

ईश्वर का भी अभिमान के प्रति द्वेष एवं दैन्य के प्रति प्रीति रहने के कारण कर्म, योग एवं ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ है ॥२७

अन्यान्य साधना-पथों में अहंकार-अभिमान के आने की संभावना है; और अहंकार के आते ही पतन होता है; इसी से अन्यान्य साधनाओं से भक्ति श्रेष्ठ

है। जब तक अहबोध है तब तक हृदय मे भक्ति का प्रकाश नही होता। अहबोध का पूर्णतया नाश नही होने पर दृष्ट-लाभ नहीं होना। अभिमानी के निकट से वे बहुत दूर रहते हैं। वे हैं दर्पहारी दीन बन्धु। सब कुछ छोड़कर जो सोलहो आने उनके ऊपर निर्भर रह पाता है उसे ही वे अपनी गोद मे उठा लेते हैं।

भगवान का किसी के प्रति विद्वेष और किसी के प्रति अनुराग है, ऐसी बात नही। ऐसा होने पर तो उनका व्यवहार सामान्य मनुष्य की भाँति हो गया। उन्होंने स्वय कहा है—

> समोऽह सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय।
> ये भजन्ति तु मा भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
>
> गी० ९।२९

"सभी प्राणियो के ऊपर मेरा समभाव है। मेरे द्वेष का भी कोई पात्र नही है और प्रिय-पात्र भी कोई नही है। जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करता है, मैं उसके अन्त करण मे निवास करता हूँ, और वह भी मेरे सग रहता है।'

तब फिर अन्यत्र जो उन्होंने कहा है—

> तानह द्विषत क्रूरान् ससारेषु नराधमान्।
> क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥
> आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
> माम प्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमा गतिम्॥
>
> गी० १६।१९-२०

द्वेषपरायण क्रूर नराधम लोगो को वे नरक मे डाल देते हैं। वे मूढगण उन्हे नहीं पाकर जन्म-जन्म मे अधोगति को प्राप्त करते हैं—इसका क्या अर्थ है? उनकी बात क्या स्वविरोधी नही है? नही। उनकी करुणा का स्रोत शत धार होकर बहता है। किन्तु मैं अपने अहकार के बाड़ा-जाल मे आबद्ध होकर मरता हूँ—उनकी करुणा के स्रोत मे शरीर को डाल नहीं पाता हूँ? यह जो रेशम के कीड़े की तरह अपने ही धागे मे बद्ध होकर मरने की अवस्था

है ! अभिमान में बद्ध रहने के कारण उनकी करुणा का अनुभव नहीं होता है। इसी से इतने दु:खों, इतनी ज्वालाओं ने . हृदय को नरक की यंत्रणा से भर दिया है। यह नरक तो उनका दिया हुआ नहीं है—यह तो मेरे अपने अभिमान की सृष्टि है। अपने दोष से मरता हूँ और सोचता हूँ कि भगवान् कितने निष्ठुर है ! सब कुछ छोड़कर जो दीनभाव से केवल उनको ही चाहता है उस भक्त का हृदय "भगवान का बैठकखाना" होता है। अभिमानी उनकी करुणा का अनुभव नहीं कर पाकर सोचता है, सभवत: भगवान उनके प्रति द्वेषपरायण हैं।

"उनकी सेवा, वन्दना और अधीनता—अथवा दीनभाव, इसे लेकर विश्वास कर पड़े रहते-रहते सब होगा—उनका दर्शन पाया जायगा ही।"

"अहंकार और अभिमान के रहने पर भक्ति नहीं होती, 'मैं'-रूप टीले के ऊपर ईश्वर का कृपारूपी जल जमता नहीं।"

"एक दिन किसी बड़े आदमी का एक दरवान कपड़े में ढँका हुआ एक शरीफा लेकर बाबू की कचहरी के एक किनारे आकर खड़ा था। बाबू ने उससे जिज्ञासा की, 'क्या दरवान, हाथ मे क्या है ?' दरवान ने अत्यंत संकुचित भाव से एक शरीफा बाहर निकाल कर बाबू के सामने रखा—उसकी इच्छा थी कि बाबू इसे खायें। बाबू ने उसके भक्तिभाव को देखकर उसे आदरपूर्वक लेकर कहा, 'यह तो बड़ा अच्छा शरीफा है, तुम इसे कहाँ से ले आये ?"

"श्रीकृष्ण को दुर्योधन ने बड़े यत्न से अपने घर पर भोजन करने का आग्रह किया। लेकिन भगवान् ने विदुर की कुटिया में साग को अमृत की भाँति खाया। कभी ईश्वर चुम्बक होते हैं और भक्त सुई। तथा कभी भक्त चुम्बक और ईश्वर सुई होते हैं। भक्त उन्हें खींच लेते है—वे भक्तवत्सल, भक्ताधीन जो है !"

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥२८॥

तस्याः (उस पराभक्ति का) ज्ञानम् एवं (केवल मात्र ज्ञान) [होता है]

साधनम् (प्राप्ति का उपाय) इति (इस प्रकार) एके (कोई-कोई) [कहते हैं] ॥२८

किसी-किसी के मत से ज्ञान ही इस भक्ति की प्राप्ति का साधन है ॥२८

शुद्धाभक्ति को पाने के लिए पहले चाहिए इष्ट का परिचय—पथ का परिचय। सभी साधनों का आरम्भ जिज्ञासा से होता है—क्या चाहिए, क्या चाहिए, उसे किस उपाय से पाऊँगा ? नहीं जानने पर किसे पुकारूँगा ? वे हैं सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान, आर्तबन्धु। पुकारने पर उत्तर देते हैं—इस प्रकार का विश्वास किंचित् परिमाण में भी नहीं रहने पर भजन की प्रवृत्ति क्यों होगी ? आर्त या अर्थार्थी भक्त जब पुकारता है तब उसका भगवान् के विषय में और कोई ज्ञान न रहे, अन्तत मात्र यह ज्ञान उसे रहता है कि ईश्वर उसकी आर्तता का नाश या अभिलाषा की पूर्ति करेंगे। इसी से किसी-किसी के मतानुसार ज्ञान भक्ति का साधन है।

अन्योऽन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥२९॥

अन्ये (फिर कोई-कोई) अन्योन्याश्रयत्वम् (ज्ञान एवं भक्ति परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं) इति (ऐसा कहते हैं) ॥२९

फिर कोई-कोई कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति परस्पर एक-दूसरे का आश्रय लेकर रहते हैं ॥२९

जो यह कहते हैं कि ज्ञान बिना भक्ति नहीं होती और भक्ति को छोड़कर ज्ञान ठहर नहीं पाता, उन लोगों की युक्ति इस प्रकार की है—

ज्ञान, इच्छा और क्रिया—ये तीनों मन की वृत्तियाँ हैं। मन कुछ करना चाहता है, कुछ जानना चाहता है तथा किसी को प्रेम करना चाहता है। इन तीनों वृत्तियों का समान रूप से अनुशीलन करने से जीवन का पूर्ण विकास होता है। कर्म और प्रेम को छोड़कर केवल बुद्धिवृत्ति का अनुशीलन करने से मन हो जाता है कठोर और नीरस। विचार और कर्म को त्याग कर केवल मात्र प्रीतिवृत्ति का अनुशीलन करने से अर्थहीन भावुकता की वृद्धि होती है। फिर ज्ञान और प्रेम से रहित होकर किया गया कर्म पागल की लक्ष्यहीन चेष्टा के

नमान हो जाता है। ज्ञान छोड़कर भक्ति नहीं होती और भक्ति छोड़कर ज्ञान भी नहीं होता। सच्चिदानन्दघन तत्त्व के अन्तरात्मा रूप में अनुभव करने के वास्ते तो पहले प्रीति की साधना चाहिए। प्रेम करने पर ही तो जानने की इच्छा होती है, जानने के लिए कष्ट स्वीकार करने की प्रवृति जगती है। चित्त को शुद्धकर सत्य को हृदय मे प्रतिष्ठित करने के लिए ही अद्वैतवादी साधकगण भी उपासना का आश्रय ग्रहण करते हैं।

स्वय फलरुपता इति ब्रह्मकुमारः ॥३०॥

[भक्ति की] स्वयं फलरूपता (अपनी फलस्वरूपता है) इति (यह) ब्रह्म कुमारः (नारद) [कहते हैं] ॥३०

नारद के मत के अनुसार भक्ति स्वयं फलरूपा है ॥३०

भक्ति कोई साधना नहीं है। इसे ज्ञान का आश्रय लेकर रहने की भी आवश्यकता नहीं है। यह साध्यवस्तु है। यह—स्वयं फलस्वरूप है। भक्ति किसी कर्म या किसी साधना के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होती। नारद के मतानुसार घिसने-माँजने से प्रेम नहीं होता। भाग्यवान् साधक के सौभाग्य से यह स्वयं ही आ जाता है। यह नित्यसिद्ध वस्तु है, साधना के द्वारा इसे किस प्रकार पाया जा सकता है? साधना के द्वारा अहं का नाश होता है, चित्तशुद्धि होती है। किन्तु चित्तशुद्धि ही ईश्वर-लाभ नहीं है। प्रेमस्वरूप भगवान् स्वयं ही कृपाकर भक्त के हृदय में प्रकाशित होते है। यद्यपि साधना में इष्ट को प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं है, तथापि साधना होने पर उनकी कृपा के अनुभव की सामर्थ्य होती है। उनकी कृपा शतधार होकर नित्य प्रवाहित होती है—हमलोगों के द्वारा केवल उसे ग्रहण करने की अपेक्षा है।

पहले ही नारद ने कहा है, भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ है। वहाँ साधना के उपायस्वरूप ज्ञान की बात कही गयी है, वस्तु के स्वरूपज्ञान को लक्ष्य नहीं किया गया है। वस्तु का स्वरूप जो ज्ञान है वह ज्ञान और परा-भक्ति एक ही वस्तु है। जिस सत्यवस्तु को पाने के लिए कर्म, योग, ज्ञान

आदि साधन-पथों का अवलम्बन किया जाता है, पराभक्ति वही वस्तु होती है।

राजगृह-भोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥३१॥

राजगृह-भोजनादिषु (राजगृह एव भोजन आदि विषयों मे) तथा एव (ऐसा ही) दृष्टत्वात् (देखा जाता है।) ॥ ३१

राजगृह एव भाजन आदि के विषय के ज्ञान म भी ऐसा देखा जाता है ॥ ३१

राजगृह एव भोजन आदि कार्यों के ज्ञान मे क्या देखा जाता है ?

न तेन राजपरितोष क्षुधाशान्तिर्वा ॥३२॥

[केवल मात्र] तेन (राजप्रासाद या भोजनीय वस्तुओं के सम्बन्ध मे ज्ञान के द्वारा) राज परितोष (राजा के सन्तोष का विधान) वा (अथवा) क्षुधाशान्ति न (क्षुधा-निवारण सभव नहीं होता) ॥३२

यहाँ ज्ञान की जो बात कही गयी है उसमें केवल पथ की खोज है। काशी जाने के पथ की विस्तृत जानकारी रहने पर भी उस जानकारी के द्वारा विश्वनाथ का दर्शन नहीं हो पाता है। राजप्रासाद या राजा के ऐश्वय के सारे तथ्यो को समग्ररूप से जानने पर भी उसके द्वारा राजा का सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता, रसोईघर मे प्रस्तुत खाद्य पदार्थ के परिमाण एव गुणों-अवगुणों को जानने पर भी भूख नहीं मिटती। इसी प्रकार, केवल ज्ञान के द्वारा इष्टप्राप्ति से उत्पन्न परमानन्द की प्राप्ति सभव नहीं होती। इसी से ज्ञान से पराभक्ति श्रेष्ठ है।

"भक्ति ही सार है। विचार के द्वारा ईश्वर को कौन जान पायगा ? मेरी आवश्यकता है भक्ति। उनका अनन्त ऐश्वय है, इतना जानने की मुझे क्या जरूरत ? एक बोतल मदिरा से यदि नशा हो जाता है तो कलाल की दूकान मे कितनी मदिरा है इस खबर की मुझे क्या दरकार ? एक लोटा जल से यदि

री प्यास बुझ जाती है तो पृथ्वी में कितना जल है इसकी खबर की मुझे रूरत नहीं है।"

"मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है भक्ति-लाभ करना। और सब माँ जानती ़। बगीचे में आम खाने आया हूँ, कितने पेड़ हैं, कितनी डालियाँ हैं, कितने करोड़ पत्ते हैं, बैठे-बैठे इन सबका हिसाब करने की मुझे या दरकार? मैं आम खाता हूँ, पेड़-पत्ते का हिसाब करने की मुझे जरूरत हीं।"

"यदि यदु मल्लिक के साथ किसी उपाय से वार्तालाप कर सका तो यदि तुम्हारी इच्छा हो, यदु मल्लिक को कितने घर हैं, सरकार के कितने ऋणपत्र उन्होंने खरीदे है, कितने बगीचे हैं, यह भी जान पाओगे। यदु मल्लिक ही कह गा। किन्तु उसके साथ यदि बातचीत न हो, उसके घर में पैठने जाने पर दि दरबान पैठने न दे, तब कितने कमरे हैं, सरकार के कितने ऋणपत्र हैं, कितने बगीचे हैं. इन सबकी सही जानकारी कैसे पाओगे? ईश्वर को जानने र सब कुछ जाना जाता है; किन्तु सामान्य विषयों को जानने की आकांक्षा हीं रहती।····पहले ईश्वर के प्राप्ति, फिर संसार या अन्य बातें।"

तस्मात् सा एव ग्राह्या मुमुक्षिभिः ॥३३॥

तस्मात् (इसी लिए), मुमुक्षिभिः (मोक्ष की कामना करने वालों के द्वारा), ा एव (एकमात्र वह पराभक्ति ही)। ग्राह्य (ग्रहणीय है) ॥३३

इसीलिए जो मुक्ति चाहते हैं, वे भक्ति का आश्रय ग्रहण करेंगे ॥३३

भक्ति का उदय होने पर संसार का बन्धन स्वयमेव गिर जाता है—मुक्ति ़ लिए भक्त को चेष्टा नहीं करनी पड़ती। फिर, यह भक्ति-लाभ कितना हज है! प्रेम तो जीव की स्वभावसिद्ध वस्तु है। वह तो दिन-रात सबको ़म ही करता है—किन्तु यह प्रेम अपात्र के प्रति होने के कारण उसे इतना ख है। वास्तविक प्रेमास्पद को ढूंढ़ पाने पर सारे दुःख मिट जाते हैं। क्ति के उदय होने पर प्रेमास्पद भक्त के साथ नित्य अनेक प्रकार की लीलाएँ रते हैं। इसी से भक्ति का आश्रय लेने पर ही जीवन सार्थक हो जाता है।

"डुबकी लगाओ। ईश्वर को प्रेम करना सीखो। उनके प्रेम में मग्न हो जाओ। सभी लोग बाबू का बगीचा देखकर अवाक् है—कैसे पेड़, कैसे फूल, कैसी झील, कैसा बैठकखाना, कैसी उसकी छवि—यह सब देखकर अवाक् हैं। किन्तु बगीचे के मालिक जो बाबू है उन्हें कितने लोग ढूढते हैं ? बाबू को ढूंढते हैं दो-एक आदमी। व्याकुल होकर ईश्वर को ढूंढने पर उनका दर्शन होता है, उनके साथ आलाप होता है, बातें होती हैं, जिस प्रकार मैं तुम्हारे साथ बात करता हूँ। सच कहता हूँ, दर्शन होता है।

यह बात किससे कहता हूँ—कौन विश्वास करता है ?"

□

पंचम अनुवाक

प्रेमाभक्ति के साधन एवं सत्सङ्ग—माहात्म्य

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥३४॥

आचार्याः (आचार्यगण) तस्याः (उस प्रेमभक्ति के) साधनानि (साधन समूह, प्राप्ति के उपाय समूह) गायन्ति (गाते हैं—वर्णन करते हैं) ॥३४

आचार्यगण प्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हैं ॥३४

भक्ति होती है साध्यवस्तु। उसको प्राप्त करने के विविध उपाय हैं। उपायों में कुछ विधि और कुछ निषेध है। लक्ष्य पर पहुँचने के लिए पथ की बाधाओं को दूर करना या उनकी उपेक्षा करनी होती है और फिर लक्ष्य की ओर अग्रसर होना होता है। यथोपयुक्त उपायों का अवलम्बन करने से इष्ट का साक्षात्कार करना सुगम होता है। अपरा भक्ति या वैधी भक्ति की साधनाएँ ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए विधि-निषेध-मूलक उपाय हैं। वैधी भक्ति के साधन देश-काल-पात्र के भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं।

इष्ट-लाभ से जो लोग धन्य हुए हैं—वस्तुलाभ के बाद भी जो लोग संसारी जीवों के प्रति करुणापरवश होकर लोक-शिक्षा के लिए संसार में विचरण करते हैं, वे ही यथार्थ आचार्य हैं। उन सब ने पात्र के भेद से तत्व की प्राप्ति के विविध उपायों का वर्णन किया है।

"जिसे संसार की अनित्यता का बोध नहीं हुआ, उससे उपदेश लेना उचित नहीं है।·· ··जो केवल पंडित हैं, उनकी बातों में गोलमाल रहता है।

लोकशिक्षा देना बहुत कठिन है। वे (ईश्वर) यदि प्रकट होकर आदेश दें, तभी हो पाता है। आदेश नहीं होने पर कौन तुम्हारी बात सुनेगा? नारद,

शुकदेव, शकर आदि को आदेश हुआ था।   भगवान-लाभ होने पर अन्तर्दृष्टि होती है, किसको क्या रोग है, यह जाना जाता है, तब ठीक-ठीक उपदेश दिया जाता है।

पुस्तक पढने से क्या ज्ञान होता है? जिसने आदेश पाया है, उसके ज्ञान का अन्त नहीं है। जो ज्ञान ईश्वर की ओर से आता है, वह समाप्त नही होता।"

"एक दिन पचवटी की बगल से जाते-जाते सुना, एक ढाबुस मेढक खूब जोरो से टर्रा रहा है। मन मे हुआ कि सांप ने पकड लिया है। कुछ देर के बाद जब लौटकर आ रहा हूँ, तब सुनता हूँ, मेढक काफी टर्रा रहा है। उझककर देखा, एक ढोर सांप मेढक को पकडे हुए है—निगल भी नही पाता, छोड भी नहीं पाता। तब सोचा, उसे यदि गेहुँअन साप पकडता तो तीन बार टर्राने के बाद मेढक चुप हो जाता। ढोर सांप पकडे हुए है न, इसी से दोनों को पीडा है। यदि सद्गुरु हो तो जीव का अहकार तीन बार की टर्राहट मे ही समाप्त हो जाय। गुरु के कच्चा होने पर गुरु को भी पीडा, शिष्य को भी पीडा। शिष्य का अहकार मिटता नही, ससार-बन्धन कटता नही।"

तत्तु विषयत्यागात् सगत्यागाच्च ॥३५॥

तत् (वह प्रेमोपलब्धि) तु (किन्तु) विषय त्यागात् (विषयों का त्याग होने से) च (एव) सग त्यागात् (आसक्ति का त्याग होने से) [होती है] ॥३५

विषय-त्याग और आसक्ति-त्याग होने पर उस प्रेम की प्राप्ति होती है ॥३५

इन्द्रिय-भोग्य जिन सब विषयो को पाने के लिए लालुप होकर मन इष्ट से विमुख होता है, वे सब विषय साधन पथ मे प्रबल बाधक होते हैं। या तो विषय को दूर हटाना पडता है, या उन सब से स्वय दूर हट जाना पडता है। किन्तु विषयो से दूर हट जाने पर ही तो मन से विषय नही चला जाता—सब कुछ भूलकर मन इष्ट के प्रेम मे मग्न

नही हो जाता ! इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं को सत्य, नित्य एवं सुखप्रद मानने की जो भ्रान्त धारणा है, उस धारणा का नाश होना चाहिए। विषय को मिथ्या जान लेने पर ही, इष्ट की विस्मृति का जो कारण विषयासक्ति है, उसका अपने आप त्याग हो जाता है।

साधन की प्रथम अवस्था में त्याग चाहिए—कामिनी-काञ्चन का त्याग। और यह त्याग सहज होना चाहिए। जोर देकर विषय-त्याग किया जा सकता है, किन्तु तुच्छ विषयानन्द के प्रति स्वाभाविक विराग नही आने पर, आसक्ति का त्याग नही होता। साधना के समय विषय से हटकर रहने की आवश्यकता है।

"त्याग की जरूरत है। एक वस्तु के ऊपर यदि और एक वस्तु है, तब ही प्रथम वस्तु को पाने के लिए अपर वस्तु को हटाना होगा। एक को नही हटाने पर दूसरी वस्तु कैसे पायी जायगी? उन्हें सर्वमय देखने पर संसार-फंसार और कुछ नही देखा जाता। त्याग नही होने पर ईश्वर को नहीं पाया जा सकता।"

"त्याग के लिए, पुरुषकार के लिए, ईश्वर से प्रार्थना करनी होगी। जो वस्तु मिथ्या प्रतीत हो उसका तत्क्षण त्याग। ऋषियों को यही पुरुषकार था। उन सब ने इसी पुरुषकार के द्वारा इन्द्रियजय की थी। कछुआ यदि अपने हाथ-पैर भीतर कर ले तो उसे चार टुकड़े काटने पर भी वह हाथ-पैर बाहर नही करेगा। कामिनी-काञ्चन का त्याग नही होने पर, नही होगा। त्याग होने पर तभी अविद्या-अज्ञान का नाश होगा।"

"थोड़ी भी कामना रहने पर भगवान को नही पाया जा सकता। हल्की गाँठ रहने पर भी सुई के भीतर धागा नही जाता। मन जब वासना-रहित होकर शुद्ध होता है, तभी सच्चिदानन्द का लाभ होता है।

"जब तक विषयासक्ति रहती है, कामिनी-काञ्चन में प्रीति रहती है, तब तक देह-बुद्धि नही जाती। जब देखोगे, ईश्वर का नाम लेते ही अश्रुपात और पुलक होती है, तब समझना कि कामिनी-काचन से आसक्ति चली गयी है, ईश्वर-लाभ हो गया है। जैसे सूखी दियासलाई—एक बार घिसते

ही दप से जल उठती है। और भीगी होने पर घिसते-घिसते तीली के टूट जाने पर भी नहीं जलती, केवल ढेर सारी तीलियों का नुकसान हो जाता है। विषय-बुद्धि का लेश-मात्र भी रहने पर उनका दर्शन नहीं होता, ईश्वर का उद्दीपन नहीं होता। विषय-रस के सूख जाने पर तुरत उद्दीपन होता है।"

"भोग के रहने पर ही योग कम हो जाता है। भोग के रहने पर ही फिर ज्वाला। भोग का त्याग हो जाने पर ही शान्ति। जहाँ भोग है वहीं भावना और चिन्ता है।"

भगवान उद्धव से कहते है—

> विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
> मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
> तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
> हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भाव भावितम्॥
>
> भा० ११/१४/२७-२८

'विषय का चिन्तन करने पर मन विषय में आसक्त हो जाता है, और मेरा चिन्तन करने के फलस्वरूप मन मुझ में लीन होता है। मेरे प्रति भक्ति से रहित अन्य सारे साधन और उनके फल स्वप्न या मन कल्पित विषयों की तरह मिथ्या हैं। इन सारी असत वस्तुओं का चिन्तन-त्याग कर मेरे भाव से भावित होओ तथा मुझमें मन को समाहित करो।'

'मन और मुख को एक करना ही होता है साधन। नहीं तो, मुख से कहता हूँ—हे भगवान, तुम मेरे सर्वस्व धन हो, और मन में विषय को ही सर्वस्व जान कर बैठा रहता हूँ, ऐसे लोगों की साधना ही विफल होती है।"

श्रीरामकृष्ण थे त्यागियों के शिरोमणि। उन्होंने अपने जीवन में आचरण कर त्याग का जो आदर्श दिखाया है वह चिरकाल तक साधकों के लिए अनुसरणीय बना रहेगा। उनके जीवन में त्याग ऐसा स्वाभाविक हो गया

था कि विषय का संस्पर्श मात्र वे सहन नहीं कर पाते थे। उनकी परीक्षा लेने के लिए श्रीनरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) ने उनके बिछावन के तले छिपाकर एक रुपया रख दिया। सोने के लिए जाने पर वे छट्-पट् कर उठ गये, मानों उनके शरीर में सिंगी मछली ने काँटा चुभा दिया हो।

उनके पेट की बीमारी के कारण थोड़ी-थोड़ी अफीम खाने की राय देकर शम्भु मल्लिक ने उन्हें थोड़ी अफीम दी। उसे धोती की खूंट में बाँधकर कालीबाड़ी लौटने के समय वे रास्ता ढूंढ़ नहीं पाते थे। अफीम लौटा देने पर ही वे कालीबाड़ी लौटे।

उनके बिछावन की चादर मैली देखकर लक्ष्मीनारायण मारवाड़ी ने उनकी सेवा के लिए उनके नाम से बैंक में दस हजार रुपया जमा कर देना चाहा। यह बात सुनकर मानों उनके माथे पर वज्रपात हो गया।

मथुर बाबू ने उनके नाम पर एक तालुक लिख देने का परामर्श चुपचाप किसी के साथ किया। उन्होंने मथुर बाबू की जो-सो कहकर भर्त्सना की।

केवल बाहर से विषय-त्याग करने से, विषय से दूर रहने से ही यथेष्ट नहीं हुआ। मन में विषय-वासना का यदि उदय नहीं हो, तभी यथार्थ त्याग होगा।

श्री भगवान कहते हैं—

> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
> इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
> यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
> कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
> (गी० ३/६-७)

'बाहरी इन्द्रियों को संयत रखकर जो मन ही मन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है वही मूढ़ व्यक्ति कपटाचारी है। किन्तु जो मन के द्वारा समस्त इन्द्रियों को वशीभूत कर अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान करते हैं, वे श्रेष्ठ है।'

किन्तु यह तो हुआ निषेध मूलक विधान। विषय में आसक्त नहीं होऊँगा, केवल यही चिन्तन करना तो विषय का चिन्तन ही करना हुआ। इसीसे आसक्तिनाश के उपाय के साथ ही प्रेमा भक्ति की प्राप्ति का प्रत्यक्ष उपाय परवर्ती सूत्र में बताते हैं।

अव्यावृत-भजनात् ॥३६॥

अव्यावृत भजनात् (सर्वदा भगवान के भजन के द्वारा) [भक्ति की प्राप्ति होती है ॥३६

सर्वदा भगवान के भजन के फलस्वरूप पराभक्ति की प्राप्ति होती है ॥३६

पूर्व सूत्र में केवल त्याग की बात कही गयी है, इस सूत्र में निम्न योग की बात कही जाती है। मन एक पल भी चुप नहीं रहता—इष्ट-चिन्तन नहीं होने पर विषय-चिन्तन आकर मन में बैठ जायगा। किन्तु यदि मन को रात-दिन भजनानन्द में डुबाकर हम रख सकें तो विषय-चिन्तन का अवकाश फिर कहाँ रहता है ? भजन का आनन्द जितना ही बढ़ता है, आसक्ति का उतना ही क्षय होता है, हृदय में उतनी ही इष्ट-स्फूर्ति घटित होती है। मन को विषय-चिन्तन का अवसर देने पर साधना का फल नष्ट होगा—साधना के ऊपर अश्रद्धा और विरक्ति आयगी। दूसरी ओर उनके नाम में, उनके रूप में, मन को मग्न कर पाने में, विघ्न का क्षय होता है, परमानन्द में स्थिति-लाभ घटित होता है।

गीता में भगवान कहते हैं, और सब कुछ भूलकर जो प्रतिक्षण उनका स्मरण करता है, नित्ययुक्त उस भक्त को वे सहज उपलब्ध होते हैं।

> अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
> तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
>
> गी० ८/१४

अभ्यास हो जाने पर विविध प्रकार से भजन इस तरह सर्वदा हो

पाता है कि दैहिक सारे कार्य भी उनकी (ईश्वर की) सेवा के अंग के रूप में अनुभव हो सकते हैं।

भजन के विविध अंग है। नारद युधिष्ठिर को नौ लक्षणा भक्ति की बात बताते हैं—

> श्रवणं कीर्तनञ्चास्य स्मरणं महतां गतेः।
> सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
>
> भा० ६/११/११

'श्रीभगवान की लीला का श्रवण, कीर्तन और स्मरण, सेवा, पूजा स्तुति, दास्य या कर्मार्पण, सख्य और आत्मनिवेदन—ये सब भजन के अंग हैं।' जब जो अच्छा लगे उस भाव का आश्रय-ग्रहणकर मन को तद्गत कर रखना भक्तिलाभ का उपाय है।

"जो भगवान को छोड़कर और कुछ नही जानता वह निःश्वास के साथ उनका नाम जपता रहता है। कोई मन ही मन सर्वदा 'राम' 'ॐ राम' का जप करता है। किसी-किसी की जीभ सदा हिलती रहती है। ज्ञान मार्ग के लोग भी 'सोऽहं' का जप करते हैं। जप करने का अर्थ है, निर्जन में निःशब्द भगवान का नाम लेना। सदैव ही स्मरण-मनन करते रहना उचित है। जप से ईश्वर-लाभ होता है। गंगा के गर्भ मे डूबी हुई बहादुरी लकडी किनारे की जंजीर से बँधी रहती है। उस जजीर की एक-एक कड़ी को पकड़ते हुए जाने के साथ डुबकी मारकर जजीर पकड़कर जाते-जाते उस लकड़ी को स्पर्श किया जाता है। निर्जन में गोपनीय रूप मे उसका नाम जपते-जपते मग्न हो जाने पर उनकी कृपा होती है, फिर उनका दर्शन होता है।"

"नाम में रुचि रखनी चाहिए। ईश्वर का नाम जपना होगा। जो नाम, वही ईश्वर —नाम और नामी में अभेद जानकर सर्वदा प्रेमपूर्वक दुर्गानाम, कृष्णनाम, शिवनाम—किसी नाम को लेकर ईश्वर को पुकारते क्यों नहीं? नाम क्या कम है? वे और उनका नाम भिन्न नही हैं। सत्यभामा जब तराजू पर स्वर्णमाणिक्य रखकर भगवान को तौल रही थी;

तब नहीं हुआ। जब रुक्मिणी ने एक ओर तुलसी और कृष्ण का नाम लिख कर धर दिया तब ठीक से तौल हो गयी। यदि नाम-जप करते-करते दिन-दिन अनुराग बढ़े, यदि आनन्द हो, तो ऐसा होनेपर फिर कोई भय नहीं। विकार कट कर रहगा। उनकी कृपा होकर रहगी।"

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवण कीर्तनात ॥३७॥

लोके अपि (ससार में रहकर भी, अन्य लोगों के साथ भी) भगवद्गुण-श्रवण-कीर्तनात् (भगवान के गुणश्रवण और कीर्तन से) [भक्तिलाभ समव होता है] ॥३७

ससार म रहकर भी या अन्य लोगो के साथ रहकर भी भगवान के गुण-श्रवण एव कीर्तन से भक्ति की प्राप्ति होती है ॥३७

पिछले सूत्र मे अव्यावृत भजन की बात कही गयी है। इससे मन मे लगता है कि इस प्रकार का अखण्ड भजन ससार का त्याग एव लोक-सग का त्याग करने पर ही सम्भव हो सकता है। किन्तु नि शेष रूप मे विषय-त्याग और जन-समाज का त्यागकर अहर्निश भजन से मग्न रहना तो आसान बात नही है। इसीसे कहते है, अन्य लोगो के निकट भगवान के लीला-कीर्तन और श्रवण, अन्य लोगों के निकट भगवान के नाम-गुण-कीर्तन करके भी उनके प्रति प्रेम उपजता है। मुख्य बात यह हुई कि मन को विषय से हटाकर प्रभु के चिंतन मे डुबाकर रखना होगा—श्रवण और कीर्तन इसमे विशेष सहायक होते हैं। विषयी लोगों के साथ निवास करने पर विषय की बात बोलनी पडती है, सुननी पडती है परिणाम स्वरूप चित्त इष्ट-विमुख होता है। इसी से आवश्यकता है भक्तो के साथ नामगुण-श्रवण और कीर्तन के द्वारा समय व्यतीत करने की। शास्त्र-पाठ और व्याख्या तथा शास्त्र-श्रवण सामूहिक रूप से भजन-कीर्तन भक्ति की वृद्धि करने मे विशेष सहायक होते हैं।

श्रीभगवान कहते हैं—"जो भक्तगण अपने मन-प्राण मुझे अर्पण करते हैं, वे परस्पर मेरे विषय में वार्तालाप कर एक दूसरे को आपस मे समझाकर

परम सन्तोष तथा आनन्द प्राप्त करते हैं।'

मच्चित्ताः मद्गत प्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
गी० १०/६

उनकी कथा नहीं कहने, नहीं सुनने पर जिह्वा और कान की कोई सार्थकता नहीं रहती।

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृन्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपागयत्युरुगायगाथाः॥

'जिस कान से भगवान के नाम-गुण का श्रवण नहीं होता, वह कान साँप के बिल की भाँति है, जिस जिह्वा से उनके नाम-गुण का कीर्तन नहीं होता, वह जिह्वा मेढक की जिह्वा के समान है।' उनके नाम-गुण के श्रवण में रत नहीं रहने पर सर्पतुल्य असत् विषय-वार्ताओं का समूह सर्वदा कान में प्रवेश करता है, उनके नाम-गुण के कीर्तन में रत नहीं रहने पर जीभ केवल मेढक के शब्दों की भाँति निरर्थक, कर्कश और दु:खदायक वाक्यों का उच्चारण करती है।

संसार सिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितिर्षोनर्न्यि प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवनमन्तरेण पुंसो भवेद् विविध दुःखदवार्दितस्य॥
भा० १२।४।४०

'विविध दु:ख-दावाग्नि से दग्ध जीव यदि अति दुस्तर संसारसिन्धु को पार करना चाहे तो उसे भगवान पुरुषोत्तम की लीला-कथा के रसास्वादन का ही आश्रय ग्रहण करना होगा; इस भव-सागर को पार करने के लिए दूसरी कोई नौका नहीं है।'

"पहले लोग योग-त्याग-तपस्या करते थे। अभी कलि के जीव हैं, अन्नगत प्राण हैं, दुर्बल मन है, एक हरिनाम ही एकाग्र होकर करने से सारे दु:ख-कष्ट दूर हो जाते हैं। नाम भी लो और साथ-साथ प्रार्थना भी करो—जिससे ईश्वर से प्रेम हो, और जो सब वस्तुएँ दो दिनों के लिए हैं, जैसे—

रुपया, मान, देहसुख—उनके ऊपर प्रीति जिससे कम हो जाय। रुपया के लिए जिस प्रकार पसीना चुलाते हो उसी प्रकार हरिनाम लेकर नाचते-गाते स्वेद निकालना होगा।"

किस प्रकार कीर्तन करना होगा?—

"जब जिस किसी देव-देवी का गीत गाना, पहले आखों के सामने उनको खड़ा करना, उन्हें सुनाता हूँ, ऐसा मन में रखकर, तन्मय होकर गाना। लोगों को सुनाता हूँ, ऐसा कभी भी नहीं सोचना।"

भगवान के नाम का श्रवण-कीर्तन करने से ही आत्म-ज्ञान की सार्थकता है, उसी में आनन्द होता है, उसी में शान्ति मिलती है।

> मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा न कथ्यते यद् भगवानधोक्षज।
> तदेव सत्यं तदु हैव मंगलं तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥
> तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
> तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥
>
> भा० १२।१२।४९-५०

'जिस वाणी के द्वारा प्रत्येक जीव में विराजमान भगवान नारायण का गुण-कीर्तन नहीं होता, वह वाणी विविध भावों से पूर्ण रहने पर भी निरर्थक और सारहीन है, सुन्दर होने पर भी असुन्दर है। जिस वाणी के द्वारा श्रीभगवान का गुण-कीर्तन होता है, वह वाणी ही परम रमणीय और रुचिकर है—वही सत्य, वही मंगलमय और वही परम पवित्र है, उसी वाणी के द्वारा चिरकाल तक परमानन्द की अनुभूति होती है।

जिस किसी भी प्रकार से क्यों न हो, उनके नाम का श्रवण और कीर्तन करने से जीव का अशेष कल्याण होता है—श्रद्धा के साथ श्रवण और उच्चारण करने पर तो फिर कोई बात ही नहीं।'

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा॥३८॥

तु (किन्तु) मुख्यतः (प्रधानतः) महत्कृपयैव (महापुरुष की कृपा से ही) वा (अथवा) भगवत्कृपालेशात् (भगवान की कृपा का कण मात्र पाने पर भी) [भक्ति की प्राप्ति होती है] ॥३८

प्रधानतः महापुरुष की कृपा से अथवा भगवान की लेशमात्र कृपा से भक्ति की प्राप्ति होती है ॥३८

भक्ति की प्राप्ति के विधि-निषेध मूलक जिन उपायों का अबतक वर्णन किया, देवर्षि नारद के विचार से वे सब गौण हैं। मुख्य उपाय हुआ महापुरुषों की कृपा-प्राप्ति या भगवान की कृपा का एक कण-मात्र पाना।

'अथवा भगवान की कृपा के कण मात्र से होती है'—यह कहने का उद्देश्य यह नहीं है कि दोनों में से किसी एक के होने से होती है। महापुरुष का—सद्‌गुरु का—आश्रय लाभ भी उनकी कृपा-सापेक्ष ही है। किसी-किसी क्षेत्र में देखा जाता है कि महापुरुष के आश्रय-लाभ के पहले भी अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भगवान की कृपा पाकर धन्य हो गया। इन दृष्टान्तों को लक्ष्यकर 'वा' का व्यवहार किया है।

"साधुसंग से ईश्वर में अनुराग होता है। उनके प्रति प्रेम होता है। साधुसंग करते-करते ईश्वर के लिए प्राण व्याकुल होते हैं। साधुसंग करने में एक और उपकार होता है—सदसत्-विचार। असत् पथ पर मन के जाने पर विचार करना होता है।....साधुसंग कैसा होता है, जानते हो? जैसे चावल का धोया हुआ जल। सत्-कथा सुनते-सुनते विषय-वासना धीरे-धीरे कम हो जाती है। मदिरा का नशा दूर करने के लिए थोड़ा-थोड़ा चावल का धोया हुआ जल पिलाना पड़ता है। इससे धीरे धीरे नशा मिट जाता है। इसी प्रकार संसार-मद में जो मस्त हो गये हैं उनका नशा दूर करने का एकमात्र उपाय है साधुसंग।"

साधुसंग के माहात्म्य का उज्ज्वल उदाहरण देवर्षि नारद का अपना जीवन ही है। दासीपुत्र होने पर भी केवल सत्संग के प्रभाव में वे प्रेम और भक्ति प्राप्त कर कृतार्थ हो गये थे।

"उनकी दया होने से ही मुक्ति होती है। वे हैं 'भवबन्धन की बन्धन हारिणी तारिणी'। लड़का खेलने गया है, खाने के समय माँ पुकारती है। जब वे मुक्ति देंगे तब अपनी प्राप्ति के लिए व्याकुलता ला देते हैं। साधुसंग करा देते हैं।"

"जबतक उनकी कृपा नही होती, तबतक दर्शन नहीं होता। हजार चेष्टा करो, उनकी कृपा नही होने पर, उनका दर्शन नहीं होता। अहंकार का पूर्णत त्याग नहीं होने पर, कृपा नहीं होती।"

महापुरुष की कृपा के बिना दुष्ट बुद्धि नहीं जाती। प्रह्लाद ने हिरण्यकशिपु को कहा था—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥

भा० ७।५।३२

'मनुष्य जब तक श्रद्धापूर्वक विषय त्यागी महापुरुषो की चरण-धूलि से अभिषिक्त नही होता, तब तक सौ शास्त्रो का अध्ययन एवं श्रवण करने पर भी उसकी बुद्धि श्री भगवान के पाद-पद्म का स्पर्श नहीं कर पाती।'

महत् पुरुष का लक्षण क्या है?

महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥

भा० ५।५।२

'जो समचित्त, प्रशान्त, क्रोधहीन, सभी प्राणियो का उपकार करने वाले एवं सदाचार सम्पन्न हैं, वे महापुरुष हैं।'

सत्सग के फल से हृदय मे किस प्रकार क्रमश भक्ति का विकास होता है उसके सम्बन्ध मे नारायण के अवतार कपिलदेव ने अपनी जननी देवहूति को कहा था—

सतां प्रसङ्गान् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

भा० ३।२५।२५

'साधुसग करने पर हृदय और कानो को आनन्द देने वाली मेरी लीला की कथा सुनने का सुयोग मिलता है। साधु-सेवा के फलस्वरूप अज्ञान दूर करने और मोक्ष प्राप्त करने का पथ उन्मुक्त होता है, हृदय मे श्रद्धा, रति और भक्ति का क्रमश आविर्भाव होता है।'

श्रीकृष्ण उद्धव को सत्संग का माहात्म्य बताते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसंगापहो हि माम्॥
भा० ११।१२।१-२

'सत्संग के फलस्वरूप मनुष्य की सर्वविधि सांसारिक आसक्ति शीघ्र नष्ट हो जाती है। सत्सङ्ग के द्वारा साधक जितनी सहजता से मुझे वशीभूत कर पाते है; सांख्य, योग, स्वधर्माचरण, स्वाध्याय, त्याग, तपस्या, इष्टापूर्त, दक्षिणा आदि किसी उपाय के द्वारा उतनी सहजता से प्राप्त नहीं करते।'

"जिनके मन-प्राण अन्तरात्मा ईश्वर में लीन हो गये हैं, वे ही साधु हैं। वे कामिनी-कांचन के किसी रूप में आसक्त होकर नहीं रहेंगे। जो साधु हैं, वे स्त्रियों को सांसारिक दृष्टि से नहीं देखते। यदि नारियों के समीप आते हैं तो उन्हें मातृवत् देखते हैं और पूजा करते हैं। सच्चे त्यागी साधु अर्थ, यश कुछ नहीं चाहते। साधु सर्वदा ईश्वर-चिन्तन करते हैं। ईश्वर की कथा छोड़कर दूसरी बात नहीं करते। और सभी जीवों में ईश्वर है, ऐसा जानकर उनकी सेवा करते हैं। मोटे तौर पर ये ही साधु के लक्षण है।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥३९॥

तु (किन्तु) महत्संगः (महापुरुष का संग-लाभ) दुर्लभः (दुर्लभ) अगम्यः (अबोध्य) च (एवं) अमोघः (अव्यर्थ फलप्रद) ॥३९

किन्तु साधु-संग दुर्लभ है, साधु को पहचान पाना भी कठिन है, तथा साधु-संग का लाभ होने पर उसका फल अमोघ है ॥३९

प्रकृत साधु पुरुष की संगति का लाभ सहज ही नहीं मिलता। भाग्य से किसी साधु-पुरुष की संगति का सुयोग मिलने पर भी उनका भाव, चाल-

चलन, साधना अपने मन के अनुरूप नहीं होने से उन्हें सम्भवत हम समझ नहीं पाते, अपने मन की मलिनता के कारण नहीं भी पहचान सकते, श्रद्धा के बदले उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। वे सहज ही अपने को पकड में आने नही देते। किन्तु, ईश्वर की कृपा से यदि साधु-सग की प्राप्ति हो और साधु के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो तो उस सग का फल व्यर्थ नही होता। तुरन्त उस सग के प्रभाव का सम्भवत अनुभव न भी हो पाता है—तथापि, एक न एक दिन उसका सुफल फलित होगा हो—अन्तर की सारी मलिनताएँ दूर होंगी—हृदय भगवत्प्रेम से पूर्ण होगा।

जैसे किसी अपरिचित स्थान मे जाने के लिए, जो उस स्थान मे परिचित है, ऐसे किसी एक आदमी की बात पर चलना पडता है, अनेक व्यक्तियो से जिज्ञासा करने पर रास्ते मे गडबडी हो जाती है, उसी प्रकार ईश्वर के समीप जाने के लिए गुरु की बात पर चलना पडता है। इसीलिए गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु के वचन पर विश्वास करना होता है। उनके वाक्य का अवलम्बन करना होता है, उनके वाक्यरूपी खूँटे को पकडकर ससार के कार्य करने पडते है।"

"सच्चिदानन्द ही गुरु हैं। वे ही शिक्षा देंगे। सभी गुरु होना चाहते है, शिष्य कोई होना चाहता नही। लोक शिक्षा देना बडा कठिन है। वे यदि दर्शन देकर आदेश दें, तभी हो पाता है। ईश्वर-लाभ होने पर अन्तर्दृष्टि खुल जाती है, किसको क्या रोग है, यह जाना जाता है, तब ठीक-ठीक उपदेश दिया जाता है। आदेश नही होने पर 'मैं लोक-शिक्षा देता हूँ'—यह अहकार होता है।"

"सद्गुरु से उपदेश लेना होगा। सद्गुरु का लक्षण है। जिसे ससार की अनित्यता का बोध नही हुआ, उससे उपदेश लेना उचित नही।"

"गुरु के उपदेशानुसार चलने पर सब को मुक्ति होगी। यदि कोई टेढे रास्ते जाय, तो उसे फिर लौट कर आने मे कष्ट होगा, उसे काफी देर से मुक्ति मिलेगी। सम्भवत अनेक जन्मो के बाद होगी। गुरु से सधान कर लेना होगा।"
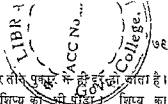
"यदि सद्‌गुरु हो, तो जीव का अहंकार तीन पुकार में ही दूर हो जाता है। कच्चा गुरु होने पर गुरु को भी पीड़ा, शिष्य को भी पीड़ा। शिष्य का अहंकार मिटता नहीं, संसार-बंधन कटता नहीं। कच्चे गुरु के पल्ले पड़ने पर शिष्य फिर मुक्त नहीं होता।"

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥४०॥

तत्कृपया एव (भगवान की कृपा होते ही) [महापुरुष का संग] लभ्यते अपि (लाभ भी हो जाता है) ॥४०

भगवान की कृपा होते ही साधुसंग का लाभ हो जाता है ॥४०

सत्संग का लाभ भी ईश्वर की कृपा के बिना नहीं मिलता। गुरु के माध्यम से ही ईश्वर कृपा करते हैं।

"यदि किसी को ठीक-ठीक अनुराग होता है और साधन-भजन की प्रयोजनीयता मन में जगती है, तो ऐसा होने पर निश्चय ही प्रभु उसे सद्‌गुरु उपलब्ध करा देते हैं।"

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥४१॥

तस्मिन् (भगवान में) तज्जने (उनके अनुगत भक्तों के बीच) भेदाभावात् (भेद नहीं होता है) ॥४१

भक्त और भगवान में भेद नहीं है। अतः भक्त की कृपा पाने पर उनकी (ईश्वर की) ही कृपा प्राप्ति होती है ॥४१

भागवत, भक्त, भगवान—तीनों एक हैं, एक ही तीन हैं। भक्त में प्रभु का प्रकाश देखकर ही तो उन्हें पाने का आकर्षण होता है! अनजाने, अनचीन्हे प्रेमास्पद का आभास केवल भक्त के हृदय में ही मिलता है।

"भक्त भगवान को चाहते हैं, और भगवान भक्त को चाहते हैं। जिस प्रकार भक्त भगवान के बिना नहीं रह पाते, उसी प्रकार भगवान भी भक्त के बिना नहीं रह पाते। तब, भक्त हैं रस, भगवान हैं रसिक। वे रस का पान करते हैं। भक्त है पद्म, और भगवान हैं भ्रमर।

वे भक्त-पद्म के मधु का पान करते हैं। वे अपने माधुर्य का आस्वादन करने के लिए दो हो गये हैं। इसी से राधा-कृष्ण की लीला है। भागवत, भक्त और भगवान—तीनों एक हैं एक तीनों है। वे वस्तुत सर्वभूतों में है, किन्तु भक्त के हृदय में विशेष रूप से हैं, भक्त का हृदय उनका आवास स्थल है। ऐसा कहा जाता है कि भगवान से भक्त बड़े हैं—क्योंकि भक्त भगवान को हृदय में धारण कर रहते हैं।"

"भक्त को भी एकाकार का ज्ञान होता है। वह देखता है कि भगवान ही सब हो गये हैं। ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। पक्की भक्ति जब होती है, तब इसी प्रकार बोध होता है। काफी पित्त जमने से जब पाण्डु रोग हो जाता है तब सब पीला ही दीखता है। तिलचट्टा दीवट के कीड़े का ध्यान करते-करते निश्चल हो जाता है और बाद में दीवट का कीड़ा ही हो जाता है। तिलचट्टा जब दीवट का कीड़ा हो जाता है तब सब हो गया। तभी मुक्ति। श्रीमती राधा श्याम का चिन्तन करते-करते समस्त श्याममय देखने लगीं, और स्वयं को भी श्याम समझने लगीं। शीशे को यदि कई दिनों तक पारा में रख दो, तो वह भी पारा हो जाता है। भक्त भी उनका चिन्तन करते-करते अहं-शून्य हो जाता है। फिर देखता है, 'वे ही मैं हैं, मैं ही वे हूँ।' जो जिसका चिंतन करता है, वह उसका स्वरूप पाता है।"

भगवान को छोड़कर भक्त रह नहीं पाते, और भगवान भी भक्त को छोड़कर नहीं रहते। भगवान श्रीकृष्ण दुर्वासा ऋषि को कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

भा० ९/४/६३

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

भा० ९/४/६८

'मैं भक्त के अधीन हूँ, अतः पराधीन हूँ। मुझे थोड़ी भी स्वाधीनता नहीं है। साधु और भक्तजनों ने मेरे हृदय पर अधिकार कर लिया है। मैं भक्तों का प्रिय हूँ, भक्त मेरे प्रिय है।.... मेरा प्रेमी भक्त मेरा हृदय है, और मैं साधु-भक्त का हृदय हूँ। मेरे अतिरिक्त वे और कुछ नही जानते और मैं भी उन सब के अतिरिक्त और कुछ नही जानता।'

तदेव साध्यताम् तदेव साध्यताम् ॥४२॥

[अतएव] तत् एव (इस सत्संग को ही) साध्यताम् (साधना करो), तत् एव (इस साधु-संगति की ही) साध्यताम् (साधना करो) ॥४२

साधु-संग का जब ऐसा अशेष माहात्म्य है तब साधु-संगति की ही साधना करो ॥४२

पिछले कई सूत्रों में सत्संग के असाधारण प्रभाव की बात कहकर भक्त और भगवान में भेद नहीं है, यह बात भी महर्षि नारद ने कही है; अब सत्संग के लिए सर्दव चेष्टा करने को उचित कहकर इस प्रसंग का वे उपसंहार करते हैं।

भगवान की अपार करुणा, उनकी अपरूप लीला-माधुरी का प्रकाश हमलोग प्रेमी भक्तों मे ही पाते हैं। यथार्थ साधु की संगति मिलने पर संसार की समस्त दुःख-ज्वाला चली जाती है, प्रेम की विमल-ज्योति से हृदय का समस्त अंधकार दूर हो जाता है। इसीसे वे कहते है, यथार्थ साधु-संग की प्राप्ति के लिए चेष्टा करो। साधु-संग होता है भक्त और भगवान के बीच योग-सूत्र।

"गुरु जैसे सखी है—जबतक श्रीकृष्ण के साथ श्री राधा का मिलन नहीं होता, तबतक सखी के काम में विराम नहीं है, उसी प्रकार जबतक इष्ट के साथ साधक का मिलन नहीं होता, तब तक गुरु के कार्य का अन्त नहीं है। अन्त में शिष्य को इष्टमूर्ति के सामने लाकर गुरु कहते हैं, 'हे शिष्य, यह देखो'—ऐसा कहकर गुरु चले जाते है। बाद में मन ही गुरु हो जाता है अथवा गुरु का कार्य करता है।"

''यदि कोई व्यक्ति गुरुरूप में चैतन्य प्रदान करता है तो समझना कि सच्चिदानन्द ने ही यह रूप धारण किया है। गुरु पंडा की भाँति हाथ पकड़कर ले जाते हैं।"

इस सूत्र का अन्य प्रकार का भी अर्थ है। भक्ति की ही साधना करो, भक्ति की ही साधना करो। "ईश्वर में यदि शुद्धा भक्ति नहीं हो, तो कोई गति नहीं।" भक्ति से जब सहज ही इष्ट-प्राप्ति होती है—पराभक्ति की प्राप्ति और ईश्वर को पाना जब एक ही बात है—तब और सब कुछ छोड़कर भक्ति की ही साधना करो। प्रेम का स्वाद जितना मिलेगा उतनी ही आस्वादन की आकांक्षा बढ़ेगी—इस आनन्द का अन्त नहीं है। इसी से कहते हैं, सर्वदा साधना में लगे रहो। थोड़े में तृप्त नहीं होओ। "आगे बढ़ो।"

"मैं एक बार म्यूजियम में गया था, वहाँ दिखाया, ईंट पत्थर हो गयी है, पशु पत्थर हो गये हैं। देखो, संग का क्या गुण है! इसी प्रकार सर्वदा साधु-संग करने से वही हो जाता है।"

□

षष्ठ अनुवाक

असत्संग-त्याग और माया से मुक्ति

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥४३॥

दुःसङ्गः (असत्सङ्ग) सर्वथा एव (सर्व प्रकार से) त्याज्यः (परित्याग करना उचित है) ॥४३

असत्सङ्ग का सर्व प्रकार से त्याग करना उचित है ॥४३

महत्संग जो भक्ति की प्राप्ति के लिए अपरिहार्य सहायक है, उसके विषय में कहा जा चुका है। यहाँ प्रतिबन्धक समूहों का उल्लेखकर साधक को सावधान किया जाता है।

सङ्ग-त्याग कर रहना बड़ा कठिन है, विशेषकर साधना की प्रथम अवस्था में। किन्तु सत्सङ्ग सर्वदा एवं सर्वत्र सुलभ नहीं होता। संसार में मन के अनुकूल मनुष्य अधिक नहीं मिलते। भगवान के विषय में कितने व्यक्ति आनन्द का अनुभव करते हैं? अधिकांश लोग तो तुच्छ विषय-भोग को लेकर ही मजे में हैं। बिना विचारे सबके साथ मिलने-जुलने से बड़ा अहित होता है। भक्ति की वृद्धि के लिए, अपने भाव को बनाये रखने के लिए देख-सुनकर लोगों के साथ मिलना होगा। असत्सङ्ग से केवल भक्ति की ही क्षति नहीं होती—यह असत्सङ्ग जीवन का सम्पूर्ण सर्वनाश कर देता है। इसीसे, दुर्जन को सर्वदा अलग ही छोड़ देना होगा।

सङ्ग कहने का तात्पर्य केवल मनुष्य का सङ्ग नहीं है। जो सब वस्तुएँ या स्थान अन्तःकरण में भोग-वासना को उत्पन्न करते हैं, मन को निम्नगामी करते हैं, उन सबको सावधानीपूर्वक दूर ही छोड़ देना होगा।

आखो से असत् दृश्य नही देखूगा, कानो से असत् बातें नही सुनूगा, असत् ग्रथो का पाठ नही करूँगा, भोग-लालसा की वृद्धि करनेवाली वस्तु का आस्वाद या स्पर्श नही करूँगा—इस प्रकार का मनोभाव लेकर जो कुछ भी मन को विषयमुखी या ईश्वर से विमुख करें, उन सब को छोडने पर ही दु सङ्ग का सर्व प्रकार मे त्याग होता है।

असत्सङ्ग क्यो त्याज्य है, इसके सम्बन्ध मे कपिलदेव कहते है—

यद्यसद्भि पथि पुन शिश्नोदरकृतोद्यमै ।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥
सत्य शौच दया मौन बुद्धि श्री र्ह्रीर्यश क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सक्षयम् ॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्ग न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडा मृगेषु च ॥

भा० ३।३१।३२-३४

'जो व्यक्ति शिश्नोदरपरायण (कामिनीकाचन मे आसक्त) पुरुष के साथ वास कर उसके ही आचरण का अनुसरण करता है, उसकी गति अन्धकारमय नरक मे होती है। इस प्रकार के असत् व्यक्ति के साथ वास करने से सत्य, शौच, दया, मौन, बुद्धि, श्री, ह्री, यश , क्षमा, शम-दम आदि सब सद्गुणो का क्षय हो जाता है। इसलिए इस तरह के मूढ, अशान्त, देहात्मवादी, नारियो के वशीभूत, करुणा के पात्र असत् व्यक्तियो के साथ वास नही करना।'

"ईश्वर सभी जीवो मे है। साधु-असाधु, भक्त-अभक्त, ।वस्तुत सब के हृदय मे ईश्वर निवास करते हैं, किन्तु बुरे लोगो का सग करना उचित नही है। किसी के साथ केवल मुँह से मात्र बातचीत की जा सकती है, और किसी के साथ वह भी नहीं। ऐसे लोगो से अलग ही रहना होता है। उन लोगो को दूर,से ही प्रणाम करना। सच ही बाघ के भीतर भी ईश्वर हैं, किन्तु बाघ का आलिंगन करना उचित नही समझा जाता है।"

"शास्त्र मे है कि जल नारायण है। किन्तु सभी जल का पान नही

किया जाता। किसी जल से देवता की सेवा होती है, फिर किसी जल से पाँव धोया, कपड़ा फींचा और वर्तन मला जाता है, किन्तु उससे मुँह धोना, उसे पीना या उससे देवता की सेवा नहीं की जाती। उसी तरह सभी जगहों में ईश्वर है, किन्तु किसी जगह पर जाया जाता है, और किसी जगह से दूर से ही भाग जाना पडता है।"

"जो लोग स्वयं कभी धर्म-चर्चा नहीं करते, दूसरे को भी ध्यान-पूजा करते देखने पर हँसी और व्यग्य करते, धर्म और धार्मिक लोगों की निन्दा करते, वैसे लोगों का सङ्ग साधना की अवस्था में कभी भी नहीं करना। उन लोगों के निकट से बिल्कुल दूर रहना।"

"जिस प्रकार की सङ्गति मे रहोगे, उसी प्रकार का स्वभाव हो जायगा। इसी से चित्र में भी दोष है।

असत् व्यक्तियों की संगति अच्छी नहीं। उन लोगो के निकट से दूर रहना होगा, देह बचाकर चलना होगा।"

काम-क्रोध-मोह-स्मृतिभ्रंश-बुद्धिनाश-सर्वनाशकारणत्वात् ॥४४॥

काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और सर्वनाश का कारण होने से दुःसङ्ग का सर्वथा परित्याग करना चाहिए ॥४४

असत्सङ्ग के फलस्वरूप कैसा सर्वनाश होता है, इसके विषय में यहाँ नारद कहते हैं। असत्सङ्ग होने से हर तरह से अकल्याण एवं सर्वनाश का होना भी सम्भव है। कुसङ्ग के प्रभाव से भोगवासना की वृद्धि होती है; असत् व्यक्ति की बातचीत और आचरण मन को विषय-लोलुप बना कर अधःपतन के गहन गह्वर में क्रमशः खींच ले जाते हैं। विषय और विषयी के संसर्ग में रहने पर मन किस प्रकार धीरे-धीरे नीचे की ओर जाता है, इस सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

'विषय-चिन्तन करते-करते उससे आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति से काम का उदय होता है, कामना की पूर्ति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा के उपस्थित होने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से मोह का जन्म होता है, मोह के आने पर स्मृति नष्ट होती है, गुरु-वचन और शास्त्रों के उपदेशों का स्मरण नहीं रह पाता, स्मृतिभ्रंश होने पर बुद्धिनाश होता है और बुद्धिनाश होने पर सर्वनाश के लिए और कुछ बचा नहीं रह पाता।'

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात् समुद्रायन्ति ॥४५॥

इमे (ये काम-क्रोध आदि) तरङ्गायिता अपि (पहले तरङ्ग की भाँति सामान्य रहने पर भी) सङ्गात् (असत् के सङ्ग के फलस्वरूप) समुद्रायन्ति (समुद्र की तरह प्रबल हो जाते हैं) ॥४५

काम-क्रोध आदि जो सब रिपु हृदय में लघु तरंगों के आकार में उपस्थित रहते हैं, वे सब असत्सग के परिणामस्वरूप समुद्र की भाँति विशाल आकार धारण कर लेते हैं ॥४२

जब हवा नहीं चलती है, तब नदी के वक्ष पर रहने वाली छोटी-छोटी तरंगें मन में किसी प्रकार के भय का संचार नहीं करती। किन्तु प्रबल वायु के बहने पर जब नदी का वक्ष आन्दोलित हो उठता है, तब उन उत्ताल तरंगों में अति निपुण नाविक भी दिशाहारा हो जाता है। काम-क्रोध की तरंग कमोबेश सब के हृदय में रहती हैं। रिपु का वेग हृदय को आंदोलित कर देता है। इसीलिए तो प्रेमास्पद को भूल जाता हूँ और विषय-भोग की ओर दौड़ पड़ता हूँ। जीवन का लक्ष्य है इन तरंगों के प्रभाव से मुक्त होकर चित्त को शान्त और प्रसन्न करना। तरंगहीन नदी के वक्ष पर जिस प्रकार पूर्णचन्द्र का प्रतिबिम्ब परिपूर्ण रूप से प्रतिभासित हो उठता है, शान्त हृदय में प्रेम का भी उसी प्रकार प्रकाश होता है। असत्सङ्ग हमें लक्ष्य से दूर खींच कर ले जाता है, कहाँ ले जाता है यह भी जानने नहीं देता। सुकृति के प्रभाव से या साधन-भजन के फल से कभी-कभी रिपु के प्रताड़न का हमलोग विशेष रूप से अनुभव

नहीं कर पाते, किन्तु इससे यदि हम यह समझ ले कि असत् के संसर्ग से हमारी और कोई क्षति नहीं होगी तो हम बड़ी भारी भूल कर बैठेंगे। प्रेम स्वरूप पारस-मणि के स्पर्श से जबतक हृदय सोना नहीं हो जाता है, तबतक असत् के संग से मलिन हो जाने की आशका बनी रहेगी।

कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः सङ्गांस्त्यजति, यो महानुभवं सेवते, यो निर्ममो भवति ॥४६॥

कः (कौन) **मायां** (माया को) **तरति** (अतिक्रम कर पाते हैं), **कः** (कौन) **तरति** (अतिक्रम कर पाते हैं)? **यः** (जो) **सङ्गान्** (आसक्तियों का) **त्यजति** (त्याग करते हैं), **यः** (जो) **महानुभवं** (महत् व्यक्तियों की) **सेवते** (सेवा करते हैं), **यः** (जो) **निर्ममः** (निर्मम) **भवति** (हैं) ॥ ४६

माया का कौन अतिक्रम कर पाते हैं? वे कैसे व्यक्ति होते है? जो आसक्ति का त्याग करते हैं, महापुरुषों की सेवा करते हैं, ममता का त्याग करते है, वे ही माया का अतिक्रमण कर पाते हैं ॥४६

अब तक क्रमशः कई सूत्रों में भक्ति-साधना के उपायों का श्रीनारद ने वर्णन किया है। इष्ट के प्रति एकनिष्ठ भक्ति प्राप्त करना समस्त साधनाओं का लक्ष्य है। इस भक्ति की प्राप्ति के प्रतिबन्धक तत्व जिससे समाप्त हो जायें उसकी चेष्टा करनी होगी, फिर साथ-ही-साथ भक्ति की जिससे वृद्धि हो, भाव जिससे घनीभूत हो, उसके उपाय का भी अवलम्बन करना होगा।

माया के बन्धन को मिटाना बहुत आसान बात नहीं है। इसके लिए चाहिए प्रबल दृढ़ता। एकनिष्ठ साधना पर जोर देने के लिए पुनरावृत्ति करते हुए नारद कहते हैं कि इस दुस्तरा माया का कौन अतिक्रम करता है? इस दुरतिक्रम माया का अतिक्रम करने में कौन समर्थ होता है?

माया से मुक्त होने के लिए, भक्ति लाभ करने के लिए, पहले चाहिए चित्तशुद्धि। अन्त.करण में प्रबल विषयासक्ति रहने पर भक्ति की प्राप्ति संभव नहीं। 'सङ्ग' कहने से विषयासक्ति भी जानी जाती है और असत्-सङ्ग भी समझा जाता है। असत्सङ्ग, त्याज्य है यह पहले ही विशेषरूप से

कहा गया है। अभी श्रीनारद कहते है, विषयासक्ति का त्याग नही करने पर माया से मुक्त नही हुआ जा सकता। साधना के द्वारा सिद्धि की प्राप्ति के लिए इन्द्रियभोग्य वस्तुओ से भी दूर रहना होगा।

सत्संग और साधुकृपा भक्तिप्राप्ति के प्रधान अवलम्बन है, यह कह चुके है। अभी श्री नारद कहते ह, केवल सत्सग करना ही यथेष्ट नही होगा, श्रद्धापूवक साधु और गुरु की सेवा भी करनी चाहिए।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। गी० ४/३४

प्रणिपात, प्रश्न और सेवा के द्वारा प्रसन्न कर तत्वदर्शी पुरुष से ज्ञान लाभ करना होगा।

श्रीमद्भागवत में भगवान श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
भा० ११।२६।३२

'इस भयकर ससार-सागर में पडकर जो लोग गोते खाते हैं—कर्म के विपाक मे कभी ऊँची, कभी नीची योनि मे जन्म-ग्रहण करते हैं—ब्रह्मविद्, शान्त, साधुगण ही उनलोगो के उद्धार के लिए नौका के समान हैं।'

यथोपश्रयमानस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥
भा० ११।२६।३१

'जिस प्रकार अग्नि का आश्रय ग्रहण करने पर शीत, भय और अन्धकार तीनो एक ही साथ दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार साधुसेवा के फलस्वरूप साधन भजन मे जडतारूपी शीत, बार-बार ससार मे अवागमन का भय तथा ससार-बन्धन का मूलकारण अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो जाते हैं।'

और केवल शारीरिक सेवा भी यथेष्ट नही है। उनलोगो के उपदेशानुसार साधन-भजन तथा अपने जीवन का गठन नही करने पर कुछ भी नही होगा।

सांसारिक वस्तु के प्रति ममत्वबोध आसक्ति के त्याग और साधुसेवा के पथ की एक प्रबल बाधा है—भक्तिलाभ का एक विषम व्यवधान है। इसी से नारद कहते हैं—जो निर्मम है, वे माया-नदी का अतिक्रम करने में समर्थ हैं। निर्मम कहने का अर्थ निष्ठुर नहीं है, संसार में जितने अनित्य पदार्थ हैं उनके प्रति 'मेरा-मेरा' के ज्ञान को 'ममता' कहते है, इस ममता का परित्याग कर देना निर्मम होना है। इस ममता के कारण हमलोग इष्ट को भूलकर खूब मजे में रहते हैं—जैसे छोटा बच्चा चुसना (चूसनेवाली लकड़ी) पाने पर माँ को भूलकर खूब खेला करता है।

माया का स्वरूप क्या है ?

"ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या। माया के कारण अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। तिकोने काँच से देखने पर अनेक रंग देखे जाते हैं—किन्तु बाहर में वस्तुतः कोई रंग नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, किन्तु माया के कारण, अहंकार के कारण विविध वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं।

"यह संसार ईश्वर की माया है। माया के कारण सत् या नित्य असत् या अनित्य जैसा प्रतीत होता है और फिर अनित्य नित्य जैसा लगता है। माया के कार्यों के भीतर कई गड़बड़ियाँ हैं, कुछ समझा नहीं जाता।"

"ईश्वर की महामाया के कारण यह जगत्-संसार है। इस माया के भीतर विद्यामाया और अविद्यामाया, दोनों ही है। विद्यामाया का आश्रय ग्रहण करने पर साधुसंग, ज्ञान, भक्ति, प्रेम, वैराग्य ये सब प्राप्त होते हैं। अविद्या-माया—पंचभूत और इन्द्रियों के विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—इन्द्रियों के भोग की जितनी वस्तुएँ हैं, ये सब ईश्वर को भुला देती हैं।"

अनेक समय अज्ञान के वशीभूत हो, आसक्ति के वशीभूत हो, किसी व्यक्ति को भी प्रेम नहीं करना या उसके शुभ अशुभ की चिन्ता से अपने को जड़ीभूत नहीं करना संभव नहीं हो पाता, किन्तु उसे निःस्वार्थभाव से मैं प्यार करता हूँ, उसके कल्याण-साधन के लिए व्यस्त हूँ, इस प्रकार सोचकर आत्मिक प्रसन्नता हमलोग प्राप्त करते हैं। किन्तु, "दया और माया ये दोनों भिन्न

वस्तुएँ है। पिता-माता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र, भतीजा, भांजा, भतीजी, इन सब आत्मीयों के प्रति जो आकर्षण है उसे माया कहते हैं। मेरी वस्तु, मेरी वस्तु—ऐसा कहकर उन सब वस्तुओं के प्रति प्रेम करने का नाम माया है। और सब के प्रति प्रेम, सभी देशों के लोगों के प्रति प्रेम और सभी धर्मावलम्बियों के प्रति प्रेम इसका नाम है दया। माया से मनुष्य बद्ध होता है, भगवान से विमुख होता है। दया से ईश्वर-लाभ होता है।"

संसार में इस अविद्यामाया का प्रथम प्रकाश अहं रूप में और परवर्ती प्रकाश—काम और लोभ के रूप में कामिनी-कांचन की आसक्ति के रूप में व्यक्त होता है।

"जीव का अहंकार ही माया है। यह अहंकार सब कुछ आवृत कर रखे हुए है। 'मैं' को मिटाने से ही जंजाल मिटेगा। मेघ ने सूर्य को ढक रखा है। मेघ के हट जाने पर सूर्य को देखा जा सकता है। यह माया अहं मानो मेघ है। गुरु की कृपा से इस अहंबुद्धि के मिट जाने पर ही ईश्वर दर्शन होता है। यह देखो, मैं इस अंगोछे का मुंह पर रखकर ओट करता हूँ। मैं इतना निकट रह रहा हूँ, तब भी मुझे देख नहीं पाते हो। इसी प्रकार भगवान सबके समीप हैं, तब भी इस माया रूपी आवरण के कारण उन्हें नहीं देख पाते हो।"

"जब तक ईश्वर दर्शन नहीं होता तब तक 'मैं कर्ता हूँ'—यह भूल बनी रहेगी। मैं सत् कार्य कर रहा हूँ, असत् कार्य कर रहा हूँ,'—ये भेद-बोध रहेंगे ही। यह भेद-बोध ईश्वर की ही माया है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए विद्यामाया का आश्रय ग्रहण करना होगा, सत्पथ पर चलना होगा। जो ईश्वर को प्राप्त करता है, वही माया को पार कर पाता है।"

"ईश्वर को क्या समझा जा सकता है? अपनी माया से उन्होंने सबकुछ ढँक रखा है। कामिनी-कांचन माया है। इस माया को हटाकर जो ईश्वर का दर्शन करता है, वही उनको प्राप्त करता है। जलकुंभी से ढँके पोखर में ढेला मारने पर थोड़ा सा जल दिखाई पड़ता है, फिर दूसरे ही क्षण कुंभी नाचते-नाचते आकर जल को ढक लेती है। अगर कुंभी को हटाकर बाँस में बाँध दिया जाय तब फिर बाँस को ठेलकर वह आगे आ नहीं पाती।

इसी प्रकार माया को हटाकर ज्ञान-भक्ति का दाड़ा लगा देने पर फिर माया उसके भीतर प्रवेश नहीं कर पाती। सच्चिदानन्द ही एकमात्र अपने को प्रकाशित करते हैं। ··सच्चिदानन्द माया रूपी जलकुंभी से ढँके हैं; जो उसे हटाकर जल पीता है, वही पाता है।"

"कामिनी कांचन ही माया है। माया को यदि पहचान पाओ तो माया स्वयं लज्जा से भाग जायगी। हरिदास बाघ की खाल पहनकर एक बच्चे को डरा रहा था। जिसे डरा रहा था उसने कहा, 'मैं पहचानता हूँ। तुम हमलोगों के हरि हो।' तब वह हँसते-हँसते चला गया। ईश्वर सत्य है, और जो कुछ है, सब माया के कार्य हैं।"

"तुम कहते हो, संसार करना ईश्वर की इच्छा है। किन्तु, कौन सी उनकी इच्छा, और कौन सी अनिच्छा—तुम क्या सब जानते हो? क्या उनकी इच्छा है कि सभी कुत्तों की तरह कामिनी कांचन में मुँह डुबाए रहें। जब स्त्री-पुत्र मरते हैं, या भोजन नहीं पाते हो, तब भगवान की इच्छा क्यों नहीं देख पाते हो? माया हमलोगों को ईश्वर की इच्छा जानने नहीं देती। इसीसे अनित्य नित्य-सा प्रतीत होता है, नित्य अनित्य लगता है। उनकी माया से ही 'मैं कर्त्ता हूँ'—यह बोध होता है। संसार अनित्य है, किन्तु उनकी माया से लगता है कि यही सत्य है। और स्त्री-पुत्र, भाई-बहन, पिता-माता, घर-द्वार, ये सब मेरे हैं, ऐसा बोध होता है।"

मायाबद्ध जीव की अवस्था का वर्णन—

"रेशम का कीड़ा जैसे अपने ही रेशे से घर बनाकरस्वयं उसमें बँध जाता है, उसी प्रकार संसारी जीव अपने कर्मो से स्वयं बँध जाता है। रेशम के कीड़े को अपना घर छोड़कर बाहर आने में ममता लगती है, और बाद में फलतः मृत्यु हो जाती है। किन्तु, मन में संकल्प कर लेने पर वह अपने गोले को काटकर बाहर आ सकता है। बद्धजीव की भी वैसी ही स्थिति है।····बद्धजीव को संसार से हटाकर अच्छी जगह रखो, तो वह व्यथित होकर मर जायगा। पाखाने का कीड़ा विष्ठा में ही खूब हृष्ट-पुष्ट होता है। यदि उसे भात की हाँड़ी में रखो तो वह मर जायगा। बुद्धिजीवी अपने और परिवार के लोगों

पेट के लिए नौकरी करता है। वह झूठ बोलकर, छल के द्वारा तथा खुशामद कर धन उपार्जन करता है।"

"बद्धजीव केवल कामिनी काचन को लिए हुए हैं। उनके हाथ-पाव कामिनी-काचन मे बँधे हुए हैं। वे ईश्वर का चिन्तन भी नहीं करते, किन्तु मन मे सोचते हैं, इस कामिनी और काचन से ही सुख मिलेगा और हम निर्भय होकर रहेंगे। वे यह नही जानते कि इन दोनो मे ही मृत्यु होगी। ससार मे अनेक दुख, कष्ट और विपत्तियो मे पड़कर भी बद्धजीव को बोध नही होता। जिस काम से इतने दुखो का भोग करते हैं उस काम को ही वे फिर करते हैं। जैसे ऊँट का काँटा खाने मे अच्छा लगता है। खाते-खाते मुह मे तड-तडकर रक्त बहने लगता है तब भी वह काटा खाना नही छोड़ेगा।"

"बद्धजीव अगर अवसर पाते हैं, तब इधर-उधर की फालतू बातें करते हैं, नहीं तो बेकार के काम करते हैं। वे कहते हैं, 'मैं चुप होकर रह नहीं पाता।' शायद समय नहीं कटते देख ताश खेलना शुरू कर देते हैं। फिर माया का ऐसा खेल है कि कोई व्यक्ति मृत्यु शय्या पर सोया हुआ भी यदि देखता है कि दीये मे बाती तेज जलती है तो कहता है, 'तेल खत्म हो जायगा, बाती को कम कर दो।' जो लोग ईश्वर-चिन्तन करते है, उन्हें पागल कह कर उनकी हँसी उडाता है। फिर उसकी कभी जैसे साँप-छुछुन्दर की गति हो जाती है। न निगल पाता है, न उगल पाता है। बद्धजीव कभी-कभी समझते हैं कि ससार मे सार वस्तु कुछ नही है, जैसे आमड़ा मे केवल गुठली और छिलका होते हैं, तब भी उसे छोड नही पाते—तब भी ईश्वर की ओर मन नहीं दे पाते। यदि ससारी जीव तीर्थ करने जाता है तो स्वय ईश्वर चिन्तन करने का समय नहीं पाता, केवल परिवार के लोगो की गठरी ढोते उसके प्राण जाते हैं। ।* ससारी लोग तीनो के दास होते हैं, उनलोगो को क्या कोई सार पदार्थ रहता है? वे स्त्री के दास, रुपयो के दास और मालिक के दास होते हैं।"

"भगवान की शरणागत क्या सहज हुआ जाता है? महामाया का ऐसा खेल है कि क्या वह शरणागत होने देती है? जिस स्त्री के तीनो कुलो मे कोई

नहीं है, उसे एक बिल्ली पोसने देकर उससे संसार कराती हैं। वह भी बिल्ली के लिए मछली और दूध का इन्तजाम घूम-घूम कर करेगी और कहेगी, 'मछली और दूध नहीं मिलने पर बिल्ली खाती ही नहीं, क्या करूँ ?"

"संभवतः कोई धनी सम्भ्रान्त परिवार था। परिवार के सभी पुरुष मर गये—कोई नहीं रहा—रह गयीं केवल कुछेक विधवाएँ !—वे मरतीं नहीं। घर का यह हिस्सा गिर गया है, वह भाग धँस गया है, छप्पर के ऊपर पीपल का वृक्ष उग गया है—इसके साथ ही दो-चार पेड़ साग के डंठल भी उग आये हैं। विधवाएँ उन्हें तोड़कर चर्चरी बनाती और संसार करती हैं ! क्यों ? भगवान को पुकारतीं क्यों नहीं ? उनकी शरणागत हों न—उन्हें तो समय है ! लेकिन यह नहीं होगा।"

"संभवतः विवाह के बाद किसी के पति का देहान्त हो गया—नि:सन्तान विधवा है। भगवान को क्यों नहीं पुकारती ? लेकिन सो नहीं—भाई के घर की गृहिणी हो गयी। माथे पर जूड़ा, आँचल में चाभी का गुच्छा बाँधे, हाथ हिलाकर गृहिणीपना करती है। उस सर्वनाशी को देखकर मुहल्ले के सीधे लोग डरते हैं। और वह विधवा यह कहती हुई बाहर निकलती है—'मेरे नहीं रहने पर भैया का भोजन नहीं हो पाता।' मरो अभागन, तुम्हारा क्या हुआ, इसे देख—सो नहीं !"

आसक्ति त्याग के बिना माया रूपी नदी को पार नहीं किया जा सकता।

"जो लोग ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधन-भजन करना चाहते हैं, उन्हें किसी भी प्रकार कामिनी-कांचन में आसक्त नहीं होना पड़ेगा। कामिनी-कांचन के सम्पर्क में रहने पर त्रिकाल में भी उन्हें ईश्वर लाभ नहीं होगा। जैसे लाई भूजने के समय जो लाई भांड़ से बाहर गिर जाती है उसे कोई दाग नहीं लगता, किन्तु गर्म बालू के भाँड़ में रहने पर कहीं-न-कहीं काला दाग लग ही जाता है।"····

"कामिनी-कांचन का पहले मन से त्याग करना होगा। उसके बाद ईश्वर की इच्छा से मन से भी त्याग करना होगा, तथा बाहर से भी त्याग करना होगा।··जो कुछ देखते हो, सुनते हो, सोचते हो, सब माया है। एक प्रकार

से कहा जा सकता है कि कामिनी-काचन ही माया के आवरण हैं। गृहस्थजन समय-समय पर निर्जन स्थान में जा साधन-भजन के द्वारा भक्ति-लाभ कर मन में त्याग करेंगे। सन्यासीगण बाहर का त्याग और मन का त्याग—दोनो ही करेंगे।"

"कामिनी-काचन में अधिक दिना तक रहने पर, फिर होश नही रहता। विष्ठा का भार ढोते-ढोते मेहतर को फिर उससे घृणा नहीं होती। नारियों की माया मे एक बार डूब जाने पर फिर निकलना कठिन हो जाता है। कामिनी और काचन—ये ही दो विघ्न हैं। इन दोनो के प्रति आसक्ति से मनुष्य का जो पतन होता है, उसे वह समझ नही पाता। जिसे भूत पकड लेता है, वह स्वय नहीं समझ पाता कि उसे भूत ने पकड लिया है। वह सोचता है कि मैं ठीक हूँ।"

"बडी-बडी दुकानो में चावल और दाल का ऊंचा गोला रहता है। उसे चूहे खा जायेंगे, इस डर से दुकानदार सूप में गुड-लाई रख देता है। खाने पर मीठी लगती है और सोधी-सोधी गन्ध लगती है इसलिए सारे चूहे सूप में जाकर सारी रात कुड-कुडाकर खाते है गोला मे पहुँच नही पाते। इसी प्रकार मनुष्य भी कामिनी-काचन में मुग्ध होकर ईश्वर की खोज नही कर पाते। भूमि, स्त्री, रुपया—इन तीन वस्तुओं पर मन रखने से भगवान से मन का योग नहीं होता। कामिनी और काचन जीव को बद्ध करते हैं। इनसे जीव की स्वाधीनता जाती रहती है। कामिनी के रहने से ही काचन की आवश्यकता होती है। उसके लिए दूसरे की गुलामी करनी पडती है। तुम अपने मन के अनुसार काम नही कर पाते हो। कामिनी-काचन में आसक्ति रहने पर ही विद्या का अहकार, रुपयों का अहकार, ऊँचे पद का अहकार—ये सब होते है।"

आसक्ति होने से सासारिक बन्धन क्रमश किस प्रकार दृढ हो जाता है 'एक कौपीन के वास्ते' कहानी उसका सुन्दर उदाहरण है।—

"एक साधु गुरु के उपदेशानुसार निर्जन स्थान में एक साधारण कुटिया बनाकर साधन-भजन करने लगे। वे प्रतिदिन स्नान कर एक पेड पर अपने वस्त्र और कौपीन सूखने के लिए धर देते थे। साधु जब भिक्षाटन के लिए बाहर

जाते तब चूहा आकर कौपीन काट देता। भिक्षा के लिए निकलकर साधु लोगों से चूहे के उपद्रव की बात बताते और नया कौपीन माँगते। उन लोगों ने एक दिन कहा—'आपको रोज-रोज कौन नया कौपीन देगा? आप एक काम करें। एक बिल्ली पालें। बिल्ली के भय से फिर चूहा नहीं आयगा।' उनलोगों ने साधु को एक बिल्ली का बच्चा दिया। भिक्षा में दूध लाकर साधु उस बिल्ली को खिलाने लगे। कुछ दिनों के बाद लोगों ने साधु से कहा, 'साधुजी, आपको रोज दूध की जरूरत है। बारहों महीने आपको कौन दूध देगा? आप एक गाय पालें, इससे आप स्वयं दूध खा पायेंगे और बिल्ली को भी खिला सकेंगे।' यह कहकर गाँव वालों ने उन्हें एक गाय दी। तब साधु उस गाय के लिए घास-चारा की भिक्षा माँगने लगे। तब गाँव के लोगों ने उनसे कहा, 'आप कुटिया के निकट खाली जमीन पर खेती करें, इससे फिर पुआल की भीख नहीं माँगनी पड़ेगी।' तब साधु खाली पड़ी हुई भूमि पर खेती करने लगे। फसल रखने के लिए भुसकार आदि तैयार कर गृहस्थों की भाँति अत्यन्त व्यस्त होकर दिन बिताने लगे। कुछ दिनों के बाद साधु के गुरु उस स्थान पर आ उपस्थित हुए। उन्होंने शिष्य से पूछा, 'वत्स, यह सब क्या है?' शिष्य ने अप्रतिहत होकर कहा, 'प्रभु, यह सब एक कौपीन के वास्ते हो गया।' गुरु के दर्शन से उनके सारे मोह कट गये और तभी सब कुछ त्यागकर वे गुरु के साथ चले गये। देखो, एक कौपीन के लिए कितने कष्ट हैं।"

जिन लोगों को 'मेरा' समझकर जीव संसार में अशेष दुखों का भोग करता है, उनलोगों का उन व्यक्ति के लिए प्रेम कितना स्वल्प है इसे वह समझ नहीं पाता है। समझ पाते ही आसक्ति से, माया के बन्धन से, वह मुक्त हो जाता है।

"गुरु ने शिष्य को कहा, 'संसार मिथ्या है। तू मेरे साथ चला आ। ईश्वर ही तुम्हारे अपने हैं, और कोई अपना नहीं है।' शिष्य ने कहा, 'प्रभु, ये सब मुझे इतना प्यार करते हैं—मेरी माँ, मेरे पिताजी, मेरी स्त्री—इन सब को छोड़कर कैसे जाऊँगा?' गुरु ने कहा, 'तू मेरा-मेरा करता है, और कहता है, वे सब प्रेम करते हैं—यह तेरे मन की भूल है। मैं तुझे दिखा

देता हूँ, कोई तेरा अपना नही। इस दवा की कुछ गोलियाँ अपने पास रख ले। तू घर जाकर कुछ गोलियाँ खाकर सो रहना। लोग समझेंगे कि तेरा देहान्त हो गया है। किन्तु, तेरा ज्ञान नही जायगा, सब कुछ देख-सुन सकोगे। मैं उसी समय आ जाऊँगा। इसके बाद धीरे-धीरे तुझे पहलेवाली अवस्था हो जायगी।' शिष्य ने वैसा ही किया। घर पर रोना-पीटना शुरू हो गया। इसी समय गुरु कविराज के वेश मे आ उपस्थित हुए। सब कुछ सुनकर बोले, 'अच्छा, इसकी दवा है—बच जायगा।' घर के सभी लोगों को जैसे हाथ मे स्वर्ग मिल गया। तब उस कविराज ने कहा, 'तब एक बात है, दवा पहले किसी एक आदमी को खानी होगी। इसके बाद इसको खिलायी जायगी। किन्तु जो पहले खायगा, उसकी मृत्यु हो जायगी। तब, यहा उसकी माँ या पत्नी—इनको तो सभी है, कोई-न-कोई खायगी ही इसमे सन्देह नही। यह होते ही लडका जी उठेगा।' तब सब रोना छोडकर चुप हो गये। शिष्य सारी बातें सुन रहा है। कविराज ने पहले माँ को पुकारा। माँ ने कहा, 'यही तो' यह बडा ससार है, मेरे जाने पर कौन यह सब देखे-सुनेगा, यही सोच रही हूँ।' पत्नी अभी-अभी कहती थी 'अरी बहना, मेरा क्या होगा री ?' तब रोते-रोते कहने लगी, 'उनका तो जो होना था वह हो गया है, मेरे छोटे-छोटे बच्चो का अब क्या होगा, मैं यदि मरती हूँ तो इन लोगों को कौन देखेगा ? मैं कैसे वह दवा खाऊँगी ? तब शिष्य का नशा चला गया। वह उठ खडा हुआ और बोला, "गुरुदेव, चलिए। यह कहकर वह गुरु के साथ चला गया।"

सासारिक प्रेम-बन्धन को वस्तुत इसी प्रकार तुच्छ कहकर श्रीरामकृष्णदेव गृही व्यक्ति को सदयकर कहते हैं—"इतने दिनों तक ससार करके तो देख लिया, सब फाँकीबाजी है। ईश्वर ही सत्य है और सबकुछ दो दिनों के लिए है। और इसमे कुछ नही है। आमडे की चटनी खाने की इच्छा होती है। किन्तु आमडा मे है क्या ? गूदा है नहीं, केवल गुठली और चमडा, खाने पर अम्लशूल होता है। जिस भी उपाय से ईश्वर को ही 'मेरा' कहकर उनसे प्रेम हो, यही करना अच्छा है।"

वैद्य के निकट नही जाने पर रोग अच्छा नही होता है। साधु सग एक

दिन करने पर नहीं होता। सर्वदा ही करने की आवश्यकता है। सबके लिए ही यह आवश्यकता है। सन्यासी के लिए भी इसकी आवश्यकता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्धमुन्मूलयति,
निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥४७॥

यः (जो) विविक्तस्थानं सेवते (निर्जन स्थान में वास करते हैं), यः (जो) लोकबन्धम् (लौकिक सम्बन्धों से उत्पन्न बन्धनों को) उन्मूलयति (निर्मूल कर त्याग देते हैं) [जो] निस्त्रैगुण्यो (सत्व, रजः और तमः—इन तीन गुणों से रहित) भवति (होते हैं), [जो] योगक्षेमं (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिए चेष्टा का) त्यजति (त्याग करते हैं) [वे माया से त्राण पाते हैं ॥४७

जो निर्जन स्थान में वास करते हैं, समस्त लौकिक सम्बन्धों का त्याग करते हैं; अथवा इहलोक या परलोक में किसी प्रकार के सुखभोग की आकांक्षा नहीं रखते, जो तीन गुणों से रहित होते हैं एवम् जो योग-क्षेम का त्याग करते हैं, वे माया के बन्धन से मुक्त होते हैं ॥४७

ज्ञान के लक्षण के वर्णन के प्रसंग में भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, "विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जन संसदि ॥—१३/१०/निर्जन स्थान में वास और लोकसग से अ-रति—ये ज्ञान के लक्षण हैं।

"निर्जन नहीं होने पर ईश्वर का चिन्तन नहीं होता। सोना गलाने के समय यदि कोई पाँच बार टोकचाल करे, तो फिर ऐसा होने पर किस प्रकार गलाया जायगा ?"

"निर्जन में ईश्वर-चिन्तन करने से ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की प्राप्ति होती है। किन्तु, संसार में छोड़ देने से यह मन नीच हो जाता है। संसार में केवल कामिनी-कांचन का चिन्तन होता है। मक्खन निकालने के लिए निर्जन स्थान में दही को जमाना पड़ता है। हिलने-डुलाने से दही नहीं जमता। फिर निर्जन में बैठकर दही को मथना पड़ता है। तभी मक्खन निकाला जाता है।

इसी से पहले निर्जन स्थान मे साधना के द्वारा ज्ञान-भक्ति-रूपी मक्खन को प्राप्त कर लो, फिर जहाँ जी चाहे, रहो।"

संसारी हो या गृही, जो भी भक्ति-लाभ करना चाहेंगे, उन्हे निश्चय ही निर्जन स्थान मे रहकर भक्ति का अनुशीलन करना होगा। जो सब विषय माया का बन्धन मजबूत करते है उन सबके बीच निरन्तर रहने पर, माया से मुक्त नही हुआ जा सकता।

"संसार म रहकर साधन करना बडा कठिन है। इसमे अनेक व्याघात हैं। रोग शोक, दरिद्रता—संसार मे अनेक झमेले हैं। तब, संसारियो के लिए उपाय है, कुछ दिन निर्जन स्थान मे साधन करना होगा। जब निर्जन मे साधन करोगे, संसार से पूरी छलाग लगा लोगे, वहाँ जैसे स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि कोई स्वजन नही रहना है। निर्जन मे साधना करने के समय सोचना कि मेरा कोई नहीं है—ईश्वर ही मेरे सर्वस्व हैं।"

ज्वरोन्माद-रोग हुआ है। और जिस घर मे ज्वरोन्माद का रोगी है, उसी मे इमली का अँचार और पानी का मटका है। स्त्रियाँ पुरुष के लिए इमली का अँचार हैं, इससे रोग दूर कैसे होगा? अँचार का स्मरण करने से ही मुँह मे पानी आ जाता है। भोग-वासना, विषय-तृष्णा बराबर ही लगी रहती हैं, ये हैं पानी का मटका। इस तृष्णा का अन्त नही है। ज्वरोन्माद-ग्रस्त रोगी कहता है, एक मटका जल पीऊँगा। इससे क्या रोग दूर होगा? इसी से निर्जन मे चिकित्सा की आवश्यकता है। कुछ दिन स्थान-परिवर्तन कर निर्जन मे जाकर रहना होगा, जहाँ इमली का अँचार और जल का मटका नही हो। फिर नीरोग होकर उस घर मे रहने मे कोई भय नहीं है।"

प्रेममय प्रभु के प्रेम के बन्धन मे बँध जाने पर भक्त को लौकिक बन्धन का त्याग करने के लिए जोर नही लगाना पडता, स्वय बन्धन का त्याग हो जाता है। अगर संसार की अनित्यता का बोध हृदय मे पक्का हो जाय तो भाव के सघन होने के पहले ही लौकिक बन्धन गिर जाते है।

"ईश्वर ही सत्य है, और सब अनित्य है। जीव-जगत्, घर-द्वार, बाल-बच्चे—ये सब बाजागीर के जादू हैं। बाजीगर ही सत्य है; उसके सारे खेल स्वप्न की भांति सत्य हैं। बाजीगर लकड़ी लेकर बाजा बजाता है: और कहता है, गुरु हो जा जादू। किन्तु ढक्कन खोलकर देखो—मात्र कुछ पक्षी आकाश में उड़ गये। जन्म-मृत्यु—ये सब जादू की भाँति है, अभी हैं, अभी नहीं हैं। तुमलोग तो स्वयं देखते हो, संसार अनित्य है। यह उदाहरण प्रत्यक्ष ही है। कितने लोग आये गये। कितने जन्मे, कितने मरे। ससार अभी है, अभी नहीं है। अनित्य। पानी ही सत्य है; पानी का बुलबुला अभी है, अभी नहीं है; बुलबुला जल में मिल जाता है; जिस जल से उत्पत्ति होती है, उसी जल में लय हो जाता है। बेटा-बेटी—जैसे एक बड़े बुलबुले के साथ पाँच-छः छोटे बुलबुले। ईश्वर मानो महासमुद्र हैं, जीवगण मानो बुलबुले हैं, उन्हीं से जन्म लेकर उन्हीं में विलीन हो जाते हैं।"

"कितने दिनों के लिए संसार के इन सब के (पुत्र आदि के) साथ सम्बन्ध रहता है! मनुष्य सुख की आशा से संसार बसाता जाता है—विवाह किया, बच्चा हुआ, वही बच्चा फिर बड़ा हुआ, उसका विवाह किया—कुछ दिनों तक खूब मजे में चला। फिर इसको रोग हुआ, वह मर गया, यह आवारा निकल गया—इसी दुश्चिन्ता से वह पूर्णरूपेण अस्त-व्यस्त हो जाता है। जैसे-जैसे रस में कमी होती जाती है, वैसे-वैसे वह आर्त्तनाद करने लगता है। देखो न! पाक के लिये बने बड़े चूल्हे में कच्ची लकड़ी का जलावन पहले खूब जलता है। उस समय उसके भीतर जो जल है उसका पता नहीं चलता। इसके बाद वह लकड़ी जितनी जलती जाती है उसका सारा रस पीछे की ओर से धक्का देकर फेन-फेन होकर निकलने लगता है, और चूँ-चाँ, फुस्-फास कई प्रकार की आवाज होने लगती है—इसी प्रकार सांसारिक लोगों का हाल भी समझो।"

आसक्ति के रहने पर ही लोक-सम्बन्ध रहता है, और लोक-सम्बन्ध के रहने पर प्रभु-प्रेम भी नहीं होता। मायाबद्ध जीव के विभिन्न लौकिक बन्धनों का परिचय हमलोग सर्वदा और सर्वत्र इसी प्रकार पाते हैं।—

"कई लोग सन्ध्या-वन्दन करने के समय दुनिया भर की बातें करते हैं,

किन्तु बात करना अनुचित है, इसी कारण से कई प्रकार से इशारा करते हैं। फिर कोई-कोई माला जपने के समय उसके बीच ही मछली का भाव या मोल-तोल भी करते हैं। फिर अंगुली से दिखा देते हैं—'यह मछली'। भगवान् की पूजा होगी, पूजा के सारे आयोजन हो रहे हैं—किन्तु भगवान् की कोई बात नहीं, केवल संसार की बातें होती हैं। गंगा-स्नान करने आयी है—भगवान् का चिन्तन नहीं करेगी, दुनिया भर की बातें खड़ी कर दीं। "तुम्हारे बेटे का विवाह हुआ, कौन-कौन से गहने मिले?' 'मेरा हरीश मुझे बड़ा प्रिय है' विधवा फूआ कहती है—'माँ! मेरे नहीं रहने पर दुर्गा-पूजा हो नहीं पाती। पूजा के लिए 'श्री' भी मुझे ही बनानी पड़ती है।' देखो-देखो—कहाँ गंगा-स्नान करने आयी है, कहाँ संसार की बातें। विश्वास नहीं है, तब भी पूजा, जप, सन्ध्या-वन्दन करती है, इसमें कुछ नहीं मिलता।"

समस्त लौकिक बंधनों का त्याग करने पर ही इष्ट लाभ होता है। बाधक प्रतीत होने पर माता-पिता के आदेशों का उल्लंघन—उन लोगों से सम्बन्ध का भी त्याग—करना होगा, तभी माया के बंधन से मुक्ति की प्राप्ति होगी।

"मात्र ईश्वर के लिए माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया जा सकता है। जो माँ ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में विघ्न उपस्थित करे, वह माँ नहीं है—वह अविद्यारूपिणी है। ईश्वर के लिए गुरुजन की बात नहीं मानने में कोई दोष नहीं होता। भरत ने राम के लिए कैकेयी की बात नहीं मानी। पिता के द्वारा निषेध करने पर भी प्रह्लाद ने कृष्ण का नाम लेना नहीं छोड़ा। कृष्णदर्शन के लिए पतियों के निषेध-आदेश को गोपियों ने नहीं माना। भगवान् की प्रीति के लिए बलि ने अपने गुरु शुक्राचार्य की बात नहीं सुनी। माँ के मना करने पर भी ध्रुव तपस्या करने वन गये थे। राम को पाने के लिए विभीषण ने अपने बड़े भाई रावण की बात नहीं मानी।"

इष्ट के प्रति दृढ़ निष्ठा होने के परिणामस्वरूप 'संसार ईश्वर का

है'—यह बोध यदि पक्का हो जाय तो संसार में रहने पर भी लौकिक सम्बन्ध भक्त को माया से आवद्ध नहीं कर पाते।

"ईश्वर-लाभ यदि कर सको तो फिर संसार असार है, यह बोध नहीं होता। जिसने ईश्वर को जाना है, वह देखता है कि जीव और जगत् वही हुए हैं। बच्चों को जब खिलाओ तब सोचो—मानो गोपाल को खिलाती हो। पिता-माता को भगवान् और भगवती के रूप में देखो और उनकी सेवा करो। भगवान् को जान लेने पर संसार बसाकर विवाहिता पत्नी के साथ प्रायः दैनिक सम्बन्ध नहीं रहता। दोनों ही व्यक्ति भक्त होकर, केवल ईश्वर की चर्चा करते हैं, ईश्वर का प्रसंग लेकर रहते हैं। सभी जीवों में वे हैं, उनकी सेवा दोनों व्यक्ति करते हैं।"

सत्व, रज. और तमः—इन्हीं तीन गुणों से संसार की सृष्टि होती है, इन्हीं तीन गुणों से जीव का सांसारिक बन्धन है। इन तीन गुणों के पार जाने पर ही प्रेमा भक्ति की प्राप्ति होती है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

गी० १४।२०

"सभी मनुष्य देखने में एक ही प्रकार के लगते हैं, किन्तु किसी में सत्वगुण, किसी में रजोगुण और किसी में तमोगुण अधिक होता है।"

संसारी जीवों में सत्व, रज. और तमः ये तीन गुण हैं। सत्व गुणी आदमी अत्यन्त शिष्ट, शान्त, दयालु और अमायिक होता है। कर्म-व्यापार पेट पालने मात्र के लिए करता है, भोजन का विशद आयोजन नहीं करता। ····मान-सम्मान के लिए सोचता नहीं। ····ईश्वर-चिन्तन, दान आदि अत्यन्त छिपकर करता है। कभी भी लोगों की खुशामद कर धन-उपार्जन नहीं करता। किसी का कुछ अनिष्ट नहीं करता। सत्वगुण की अवस्था में शोर गुल सह्य नहीं होता। सत्वगुण के आने पर ईश्वर-लाभ में और देर नहीं होती। फिर कुछ आगे बढ़ने पर ही ईश्वर को प्राप्त करता है। अंतिम

जीवन में सत्वगुण रहता है, भगवान् में मन रहता है, उनके लिए मन व्याकुल होता है, अनेक विषय-कर्मों में मन हट जाता है।"

"रजोगुणी व्यक्ति अधिक कार्यों में जड़ीभूत होता है। दान करता है लोगों को दिखाकर। रजोगुण में थोड़ा पाण्डित्य दिखाने की, लेक्चर देने की इच्छा होती है।'

"तमोगुणियों के लक्षण हैं—काम, क्रोध, अधिक खाना, अधिक निद्रा, अधिक अहंकार, यही सब।"

"संसार के वन में सत्व, रज, तम ये तीनों गुण डाकू की भाँति जीव के तत्व-ज्ञान को हर लेते हैं। ब्रह्मज्ञान से सत्वगुण भी काफी दूर है। एक व्यक्ति जंगल में जा रहा था। वहाँ तीन डकैतों ने आकर उसे पकड़ लिया और उसका सबकुछ लूट लिया 'एक डकैत ने कहा,'' इसे मार डाला जाय, दूसरे ने कहा, इसे मार डालने की जरूरत नहीं है, उसके हाथ-पैर बाँधकर हमलोग छोड़ चलें।' तब उन लोगों ने वही किया। थोड़ी देर बाद तीसरे डाकू ने वापस आकर कहा—'आओ, तुम्हारा बन्धन खोल दूँ। तुम्हें बहुत कष्ट होता है न!' तदुपरान्त उसका बन्धन खोलकर अपने साथ उसे राह में काफी दूर तक लेता गया और सदर रास्ते में आकर उससे कहा,—'वह तुम्हारा घर दिखाई पड़ता है, अब तुम सीधे चले जाओ।' तब उस आदमी ने डाकू से कहा, 'महाशय, जब आपने मेरा इतना उपकार किया है, तब मेरे घर तक चलिए।' डाकू ने कहा,—'नहीं, मैं और आगे नहीं जाऊँगा, पुलिस पहचान लेगी।' सत्वगुण जीव को संसार-बंधन से छुड़ा देता है। सत्वगुण भी चोर है, लेकिन वह परमधाम तक जाने के मार्ग पर ला देता है। तमोगुण जीव का विनाश करना चाहता है। रजोगुण संसार में बाँध देता है, अनेक कार्यों में जड़ीभूत कर देता है, ईश्वर को भुला देता है। किन्तु सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण से बचाता है। काम, क्रोध आदि तमोगुण से सत्वगुण रक्षा करता है। सत्वगुण सीढ़ी का आखिरी धाप है, इसके बाद ही छत है। मनुष्य का स्वधाम है परब्रह्म।"

गुणातीत भक्त का क्या लक्षण है ?

"ईश्वर-लाभ होने पर पाँच वर्ष के बच्चे-सा स्वभाव होता है। ईश्वर स्वयं बाल-स्वभाव के हैं।"

मायामुक्त होने के लिए, तीन गुणों के पार जाने के लिए, एकमात्र उपाय है अव्यभिचारिणी भक्ति।

श्री भगवान् ने कहा है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ गी० १४।२६

'जो साधक अव्यभिचारी भक्तियोग का आश्रय ग्रहण कर मेरी सेवा करते हैं, वे सभी गुणों के प्रभाव से मुक्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त करते हैं।'

किसी साधक को, जो गुणातीत हो गया है, हमलोग पहचान कैसे पायेंगे?

प्रकाशं च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
गी० १४।२२-२५

'प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह क्रमशः सत्व, रजः और तमोगुण के कार्य हैं। इन सबके आविर्भाव होने पर जो विद्वेष नहीं प्रकट करते, 'ये सब चले जायँ' कहकर जो व्यस्त नहीं हो जाते, उन्होंने तीन गुणों को अपने वश में कर लिया है। जो उदासीन की भाँति अवस्थित होकर इन्द्रिय और विषयरूप

में परिणत गुणों की क्रिया द्वारा चंचल नहीं होते, अपने को उन सबसे पृथक् जानकर स्थिर रहते हैं, वे गुणातीत हो गये हैं। जो सुख और दुःख में समान रहते हैं, जो आत्मस्वरूप में अवस्थित हैं, मिट्टी, पत्थर और सोने में जो भेद नहीं देखते, प्रिय और अप्रिय वस्तु जिनके लिए समान हैं, जो धीर हैं, निन्दा या प्रशंसा से, मान और अपमान में जो विचलित नहीं होते, जो शत्रु और मित्र को समान दृष्टि से देखते हैं, फल की आकांक्षा से जो कर्म का आरंभ नहीं करते, वे गुणातीत कहे जाते हैं।'

भोग की वासना जब तक बची रहती है तबतक केवल जो नहीं है उसकी प्राप्ति, एवं जो है उसकी रक्षा करने की चेष्टा की जाती है। वासना के समाप्त हो जाने पर फिर कोई गुण मन पर प्रभाव नहीं डालता। इसी से संग्रह और संरक्षण की प्रवृत्ति भक्त हृदय को व्याकुल नहीं करती। 'मेरा' कहकर तो उनका और कोई काम रहता नहीं। इसीलिए, 'जो है, उसकी कैसे रक्षा करूँ और जो नहीं है, वह कैसे पाऊँ"—यह भावना उन्हें अपने इष्ट की विस्मृति नहीं करा पाती। उनको तो अभाव का बोध ही नहीं रहता, क्योंकि उनके सारे अभावों की पूर्ति की व्यवस्था भगवान् ही करते हैं। उन्होंने अपने श्रीमुख से ही प्रतिज्ञा की है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गी० ९।२२

'जो साधक अन्य सारे आश्रयों का परित्याग कर केवल मात्र मेरे चिन्तन और मेरी उपासना में रत रहते हैं, उन नित्य युक्त व्यक्तियों की अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु के संरक्षण का भार मैं ले लेता हूँ।'

"साधुगण संचय नहीं करेंगे, ईश्वर के ऊपर सोलहों आना निर्भर रहेंगे। एक युवा सन्यासी किसी के घर भिक्षा के लिए गया था। वह आजन्म सन्यासी था। संसार के विषय में कुछ जानता नहीं था। एक युवती ने आकर उसे भिक्षा दी। उसकी छाती पर स्तन देखकर साधु ने सोचा फोड़ा हो गया है, इसी से जिज्ञासा की। बाद में घर की गृहिणी ने उसे समझा दिया—उसके पेट में बच्चा होगा, अतः ईश्वर पहले से ही स्तन में दूध देंगे, इसी से उसकी

व्यवस्था उन्होंने (भगवान् ने) की है। साधु ने यह बात सुनकर अवाक् हो कहा, 'तब मैं ही क्यों भिक्षा माँगू? मेरे खाने की भी व्यवस्था वही करेंगे।' दीपक जलने पर पतंगे का अभाव नहीं होता। हृदय में भगवान् के प्रतिष्ठित हो जाने पर सेवा करने के लिए अनेक लोग भी आ जाते हैं। लेकिन जिसे चेष्टा करने की आवश्यकता महसूस होती, उसे चेष्टा करनी ही होगी।"

संसार में रुपयों की जरूरत है, ऐसा कहकर उसके लिए विशेष नहीं सोचो। संचय के लिए इतना चिंतन मत करो। जो सच्चा भक्त है, उसके द्वारा चेष्टा नहीं करने पर भी ईश्वर उसे सबकुछ जुटा देते हैं। वह उसके लिए अधिक नहीं सोचता। एक ओर से रुपया आता है। फिर दूसरी ओर खर्च हो जाता है। जितनी आय, उतना व्यय। इसका नाम है यदृच्छा-लाभ—यही अच्छा है। जो रुपया-पैसा नहीं चाहता, उसके पास रुपये स्वयं आते हैं।"

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥४८

यः (जो) कर्मफलं (कर्मफल) [का] त्यजति (त्याग करते हैं), कर्माणि (कर्म-समूह) [का] संन्यस्यति (त्याग करते हैं), ततः (तदुपरान्त—कर्म और कर्मफल के त्याग के द्वारा), निर्द्वन्द्वः (द्वन्द्व-रहित), भवति (होते हैं) [वे ही माया का अतिक्रमण करते हैं] ॥४८

जो कर्मफल का त्याग करते हैं, समस्त कर्मों का त्याग करते हैं एवं द्वन्द्वातीत होते हैं, वे ही माया का अतिक्रमण करते हैं ॥४८

किसी कर्म का फल चिरस्थायी होना तो दूर रहे, दीर्घकाल तक भी स्थायी नहीं होता। फिर फल की कामना करना ही है—और इसके परिणामस्वरूप इष्ट की विस्मृति हो जाती है। फल की कामना रहने पर माया से मुक्ति नहीं हो पाती। इसीसे भक्त अपने लिए किसी फल की कामना नहीं करते; सामने जो कार्य आ जाता है उसका फल इष्ट को अर्पण कर स्वयं को उनके हाथ का यंत्र-स्वरूप समझकर उस कार्य को कर लेते हैं।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥ गी० ६।२७

'जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ आहुति दो, जो कुछ दान करो, जो कुछ तपस्या करो, वह सब मुझको अर्पण करो।'

भगवान् के इस आदेश का वे प्रतिक्षण पालन करते हैं एवं इसके फलस्वरूप कर्म के शुभ अशुभ फलों के बन्धन से मुक्त होकर भगवान् को ही पाते हैं।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ गी० ६।२८

"बड़े लोगों के घर के दास-दासी काम करने के समय सोचते हैं—सभी मालिक के काम है, अपना कोई काम नहीं। इसी तरह संसार में रहकर काम करते हुए मन में सोचना, सभी भगवान् के काम है, अपना कुछ नहीं। फिर पूजा, जप-तप करते हो, लेकिन लोगों में मान्यता प्राप्त करने के लिए नहीं अथवा पुण्य करने के लिए नहीं।"

"संसारी लोग शुद्ध भक्त होने पर लाभ-हानि,सुख-दुःख, इन सभी कर्मों का फल ईश्वर को समर्पण कर देते हैं। संन्यासी को भी सभी कर्म निष्काम-भाव से करना होगा। संन्यासी विषय-कर्म संसारियों की भाँति नहीं करते। कर्म अच्छा है। खेत जोतने के बाद जो बोओगे वही उत्पन्न होगा। किन्तु कर्म निष्काम-भाव से करना होगा। सभी जीवों में ईश्वर हैं, उनकी ही सेवा करनी होगी। ईश्वर की सेवा होने पर अपना ही उपकार हुआ। केवल मनुष्य के भीतर नहीं, प्रत्येक जीव-जन्तु के भीतर भी ईश्वर हैं, ऐसा सोचकर यदि कोई सेवा करे, और वह मान, यश, मरने के उपरान्त स्वर्ग आदि—कुछ भी नहीं चाहे, जिनकी सेवा करता है उनसे प्रतिदान में किसी प्रकार का अपना उपकार नहीं चाहे, इस प्रकार यदि कोई सेवा करे, तो ऐसा होने पर उसका यथार्थ निष्काम कर्म, अनासक्त कर्म करना हुआ। इस प्रकार का निष्काम कर्म करने पर उसका अपना ही कल्याण होता है।"

"सामने जो भी काम आया, ना करके नहीं, उस काम को ही कामनाहीन होकर करना होगा। इच्छा करके कामों में जुटना अच्छा नहीं, इससे भगवान्

को भूल जाना पड़ता है। जैसे कोई काली-घाट में दान ही करने लगा और काली का दर्शन हुआ नहीं। पहले जैसे-तैसे करके, धक्का-मुक्की खाकर भी काली-दर्शन करना चाहिए, इसके बाद जितना भी दान करो या नहीं करो! इच्छा हो, खूब करो। निष्काम कर्म करने पर ईश्वर में प्रीति होती है। धीरे-धीरे उनकी कृपा से उन्हें पाया जाता है। ईश्वर-प्राप्ति के लिए ही कर्म है।"

"जो अनासक्त होकर दया और दान करता है, वह अपना कल्याण करता है! दूसरे का उपकार, दूसरे का कल्याण—यह सब ईश्वर करते हैं। माँ-बाप के भीतर जो स्नेह देखते हो, वह ईश्वर का ही स्नेह है, दयालु के भीतर जो दया देखते हो, यह ईश्वर की ही दया है। जीवों की रक्षा के लिए ही ईश्वर ने ये चीजें दी हैं। जीव के लिए उन्होंने चन्द्र-सूर्य, माँ-बाप, फल-फूल, अन्न बनाये हैं। तुम दया करो या नहीं करो; वे किसी-न-किसी सूत्र से अपना काम करेंगे। संसार के दुःखों का नाश तुम करोगे? संसार क्या इतना छोटा है? वर्षा काल में गंगा में बहुत केंकड़े हो जाते हैं; जानते हो? इसी प्रकार असंख्य जगत् है। इस संसार के जो पति है, वे सबका समाचार लेते हैं। इस जीवन का उद्देश्य है पहले ईश्वर को जानना। इसके बाद जो हो, सो करो।"

निष्काम भाव से कर्म करते-करते बाद में एक ऐसी अवस्था आती है जब कोई कर्म करने की फिर प्रवृत्ति नहीं होती। इष्ट जब भक्त के हृदय-आसन पर पूर्णरूप से अधिकार कर बैठ जाते है तब भक्त के सारे कर्मो का स्वयं त्याग हो जाता है। अहं-बोध रहने पर ही तो कर्म होता है। भक्ति की अधिकता से भक्त का 'मैं' इष्ट में लय हो जाता है। बलपूर्वक कर्म-त्याग के द्वारा नहीं, बल्कि सहज भाव से सभी कर्मों का त्याग हो जाने पर भक्त माया-मुक्त हो जाते हैं।

"सच्चिदानन्द में जबतक मन लय नहीं होता, तब तक ईश्वर को पुकारना और संसार के कर्म करना, दोनों ही रहते है। इसके बाद उनमें मन के लय हो जाने पर फिर किसी कार्य के करने की आवश्यकता नहीं रहती।"

"सत्वगुणी व्यक्ति का कर्म-त्याग स्वभावत हो जाता है—चेष्टा करने पर भी वह पुन कर्म कर नहीं पाता। ईश्वर की ओर जितना आगे बढ़ोगे, उतना ही कर्म का आडम्बर कम हो जायगा। इतना कि ईश्वर के नाम का गुण-गान करना पर्यन्त बन्द हो जाता है।"

'मैं कर्ता हूँ'—इस अहंकार के मिट जाने पर भक्त मे और किसी के प्रति कोई आसक्ति या विद्वेष नही रहता—तब वे निर्द्वन्द्व हो जाते है। द्वन्द्वातीत होने पर माया के बन्धन से मुक्ति मिलती है। अहंबोध के नष्ट हो जाने पर संसार के सारे द्वन्द्व—अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, हेय-उपादेय, आदि भी भक्त के अन्दर किसी प्रकार का विकार उत्पन्न करने मे—सुख या दुःख देने मे समर्थ नहीं होते।

इस सूत्र मे गुणातीत होने के लिए साधना-क्रम का कथन हुआ है। पहले ईश्वर मे कर्म-फल का अर्पण—अपने फल-भोग की वासना का त्याग कर ईश्वर के निमित्त कर्म का अनुष्ठान—करना। कामना-वासना का क्षय होने पर कर्मत्याग आता है। कर्मत्याग के बाद शान्त और निर्द्वन्द्व होने की अवस्था—केवल इष्ट को लेकर परमानन्द का भोग करने की अवस्था आ जाती है।

यो वेदानपि सन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुराग लभते ॥४९॥

य (जो) वेदान् अपि (वेद विहित विधि-निषेध एव कर्मसमूहो का भी) सन्यस्यति (परित्याग करते हैं), केवल (एकमात्र) अविच्छिन्नानुराग (इष्ट के प्रति अविच्छिन्न अनुराग) लभते (लाभ करते है) [वे ही मायामुक्त होते हैं] ॥४६

जो शास्त्रीय विधि-निषेधमूलक कर्मसमूहो का भी त्याग करते है एव इष्ट के प्रति अविच्छिन्न अनुराग प्राप्त करते है (वे ही मायामुक्त होते है) ॥४६

शास्त्रीय विधि-निषेध-समूह साधक के लिए है—सिद्धि-लाभ होने पर विधि-निषेध मानकर चलने की बात भी विस्मृत हो जाती है। वेदत्याग का आशय है कि भक्त वेद-विहित कामना-युक्त कर्म के अनुष्ठान का परित्याग

करते हैं। भाव-भक्ति जब प्रबल होते है, चित्त जब तद्गत होता है, तब फिर कोई विचार नहीं रहता; तब सारे नियमों को मानकर कर्मों का अनुष्ठान करना भक्त के लिए सम्भव नहीं रह पाता।

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान् न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥

भा० ११/७/११

'बालकों के मन में जिस प्रकार अच्छे-बुरे का विचार नहीं रहता, गुणातीत भक्त भी उसी प्रकार विचारों के पार चले जाते हैं। वे 'यह कार्य बुरा है, अतः इसे नहीं करूँगा', ऐसा सोचकर किसी निषिद्ध कर्म का त्याग नहीं करते, अथवा 'यह कार्य उत्तम है', ऐसा सोचकर किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होते।'

इष्ट के प्रति जब अविच्छिन्न प्रेम होता है तब फिर विधि-निषेध का विचार कैसे रहेगा? साधक जब प्रेम की धारा में अपने शरीर को प्रवाहित कर देते हैं तब उनका माया का बन्धन छूट जाता है।

"कर्म बराबर करना होगा, ऐसा नहीं है। ईश्वर के प्रति प्रेम होने पर स्वयं ही कर्म-त्याग हो जाता है। जब एकबार हरि या एकबार राम का नाम लेने पर रोमांच हो जाय, अश्रुपात होने लगे, तब निश्चयपूर्वक समझ लो कि जप, आह्निक आदि कर्म करना अब आवश्यक नहीं रह गया! तब कर्मत्याग का अधिकार होता है। तब कर्म का अपने-आप त्याग हो जाता है। जब फल होता है तब फूल झड़ जाता है। जब भक्ति होती है, ईश्वर-लाभ होता है, तब सन्ध्या आदि कर्म छूट जाते हैं। और कर्म करना नहीं होता। मन भी उनमें नहीं लगता। भक्ति फल है, कर्म फूल।"

"यदि ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न हो, तब होम, याग-यज्ञ, पूजा—इन सब कर्मों को करने की विशेष आवश्यकता नहीं रहती। जबतक हवा नहीं मिलती, तबतक ही पंखे की आवश्यकता होती है, यदि स्वयं ही हवा बह रही हो, तो पंखे की कोई और आवश्यकता नहीं रह जाती।"

"परमहंस अवस्था में पूजा जप, तर्पण, सन्ध्या—ये कर्म समाप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में केवल मन का योग रहता है। लोक-शिक्षा के लिए अपनी खुशी से कभी-कभी बाहरी कर्म वह करता है, किन्तु प्रभु का स्मरण-मनन सदैव बना रहता है।

"ज्ञानोन्माद या प्रेमोन्माद होने पर कौन है माँ, कौन है बाप और कौन है पत्नी! ईश्वर में इतना प्रेम है कि पागल की भाँति हो गया है। उसको करने के लिए कोई कर्म नहीं रहता है। वह सभी ऋणों से मुक्त है। उस अवस्था में भविष्य की चिन्ता भगवान् करेंगे। प्रेमोन्माद होने पर संसार विस्मृत हो जाता है। भूख, प्यास, नींद, कुछ भी नहीं रहती। अपनी देह जो इतनी प्रिय वस्तु है वह भी विस्मृत हो जाती है।"

अविच्छिन्न अनुराग का एक उदाहरण —

"राम, लक्ष्मण पम्पा सरोवर गये थे। लक्ष्मण ने देखा कि एक कौआ प्यास से व्याकुल होकर बार-बार पानी पाने जाता है, किन्तु पीता नहीं। लक्ष्मण द्वारा राम से इसका कारण पूछने पर उन्होंने कहा, "भाई, यह कौआ परम भक्त है। दिन-रात राम नाम का जप करता है। सोचता है, पानी पीने में जो समय लगेगा उसमें राम नाम के जप में एक अन्तराल पड़ जायगा।"

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥५०॥

स (वे) तरति (माया का अतिक्रमण करते हैं), स (वे) तरति (माया का अतिक्रमण करते हैं), स (वे) लोकान् (सभी लोगों को) तारयति (संसार समुद्र के पार ले जाते हैं) ॥५०॥

इस प्रकार भक्त निश्चय ही स्वयं मायामुक्त होते हैं एवं दूसरों का भी उद्धार करते हैं ॥५०

पूर्व के तीनों सूत्रों में साधना का जो उपदेश श्री नारद ने दिया है उस प्रकार के साधन-सम्पन्न भक्त केवल स्वयं ही मुक्त नहीं हो जाते, बल्कि दूसरों का भी उद्धार करते हैं। श्रीमद्भागवत में भगवान् कहते हैं, 'मद्भक्तः भुवनं पुनाति'—मेरे भक्त संसार को पवित्र करते हैं।

□

सप्तम अनुवाक

भक्ति के लक्षण

अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम् ॥५१॥

प्रेमस्वरूप (प्रेम का स्वरूप) अनिर्वचनीयम् (अनिर्वचनीय) [है] ॥५१

वाक्यों के द्वारा प्रेम के स्वरूप को व्यक्त नहीं किया जा सकता ॥५१

प्रेम की प्राप्ति होने पर समस्त साधनाओं की परिसमाप्ति हो जाती है। प्रेम के स्वरूप को मुख से नहीं कहा जा सकता—उसका मात्र अनुभव होता है। इष्ट के आस्वादन का जो आनन्द है वह तो इष्ट से भिन्न नहीं है। उस प्रेम को यथार्थ रूप से भाषा में व्यक्त करने की सामर्थ्य किसी को नहीं है। यह इस प्रकार है, घी खाने में कैसा लगता है?—इस प्रश्न के उत्तर में कहा जायगा, घी जैसा खाने में लगता है वैसा ही।

प्रेम के स्वरूप का विश्लेषण करने, प्रेम की कोई सही-सही सत्ता देने की भाषा के द्वारा यथावत् भाव से वर्णन करने योग्य शक्तिशाली मन किसी में भी नहीं देखा जाता। और वाक्य की क्षमता भी तो सीमा में बँधी है। बाहरी वस्तु या व्यापार या मानसिक अनुभवों का यथावत् वर्णन करना ही असाधारण मननशील व्यक्ति के लिए भी प्राय कठिन हो जाता है—प्रेमानुभूति का वर्णन करना तो दूर की बात है। मन जब भी विचारोन्मुखी होता है, अनुभव तभी दूर खिसक जाता है। इसलिए मन के द्वारा प्रेमानुभूति की स्मृति मात्र का विचार—वाक्य द्वारा उस स्मृति का ही वर्णन—करना सम्भव होता है। किन्तु, स्मृति और वस्तु का स्वरूप तो एक ही नहीं है।

मूकास्वादनवत् ॥५२॥

[प्रेम] मूकास्वादनवत् (गूंगे के रसास्वादन की भाँति है) [अनुभववेद्य होने पर भी वाक्य द्वारा उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता] ॥५२॥

गूँगे व्यक्ति के रसास्वादन की भाँति प्रेम केवल अनुभव द्वारा जानने योग्य है। ॥५२॥

पहले श्री नारद ने कहा है, प्रेम के स्वरुप को वाक्य द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता। तथापि, इस सूत्र में लौकिक दृष्टांत द्वारा प्रेम के स्वरूप को, जितना संभव है, समझाने की वे चेष्टा कर रहे हैं।

किसी गूँगे ने अन्य कुछ लोगों के साथ किसी सुस्वादु वस्तु का भोजन किया। रसास्वादन की क्षमता सबमें समान रुप से रहने के कारण सबने उस वस्तु के आस्वाद का समान भाव से उपभोग किया। किन्तु जिन लोगों के पास वाक्‌शक्ति थी, केवल वे ही अनेक प्रकार के वाक्य-विन्यासों के द्वारा उस वस्तु का माधुर्य एक दूसरे को समझा पाये। फिर जिन लोगों को उस वस्तु के ऊपर समान प्रीति थी तथा आस्वादन के फलस्वरूप समान रुप से तृप्ति मिली थी, केवल वे ही उस वस्तु की उपादेयता के सम्बन्ध में एकमत हुए। किन्तु, गूँगा क्या करेगा ? वह संकेत से, इशारे से अपने मन के आनन्द को व्यक्त कर संतुष्ट हो गया। इसी प्रकार प्रेम के आस्वादन को हम लोग अपने अन्तःकरण में ही अनुभव कर सकते हैं—वाक्य के द्वारा उसे व्यक्त करने की सामार्थ्य हमलोगों को नहीं होती। एक ही भाव के भावुक प्रेमीजन केवल आपस में उस प्रेमस्वरुप के विषय में बातें कर परम तृप्ति का बोध करते हैं।

प्रकाशते क्वापि पात्रे ॥५३॥

[वह प्रेम] क्व अपि (किसी-किसी) पात्रे (पात्र में—उपयुक्त अधिकारी में) प्रकाशते (प्रकाशित होता है) ॥५३

किसी-किसी उपयुक्त अधिकारी में प्रेम का प्रकाश देखा जाता है ॥५३

उस प्रेम का स्वरुप यदि शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता तब अमृतस्वरूप प्रेम, जो सचमुच है ही, उसे प्राप्तकर किसी का भी जीवन धन्य होता है, इसका प्रमाण क्या है ? हाँ, प्रमाण है। किन्हीं भाग्यवान

के हृदय में उस दिव्य प्रेम का प्रकाश देखा जाता है। प्रेम प्राप्त कर वे जिन अतुल आनन्द के अधिकारी होते हैं, उनलोगों की देह, मन और आचरण में उस दिव्यानन्द का किंचित प्रकाश हमलोगों को प्रेम के अस्तित्व और माहात्म्य के सम्बन्ध में निःसंशय कर देता है। इस प्रकार के भाग्यवान प्रेमियों का दर्शन नहीं मिलने पर प्रेमस्वरूप भगवान् के अस्तित्व का संसार में प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा होने पर कौन उस प्रेम के एक बिन्दु को पाने की आशा में पागल होकर अपने सर्वस्व को त्यागकर निकल पड़ता? साधना के सोपान की अंतिम सीढ़ी पर पहुँचने पर प्रेमानुभूति होती है। चित्त जब वासना-शून्य एवं शुद्ध होता है, तब अन्तःकरण में इस दिव्य प्रेम का प्रकाश होता है।

"किसी-किसी का प्रेमाभक्ति अपने-आप हो जाती है, स्वतः सिद्ध होती है। वह अपने बचपन से ही ईश्वर के लिए रोता है, जैसे प्रह्लाद।"

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानम्
अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरम् अनुभवरूपम् ॥५४

[प्रेम होता है] गुणरहित (गुण रहित—सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से भिन्न), कामनारहित (स्वार्थ के गन्ध से शून्य), प्रतिक्षण वर्धमानम् (प्रतिक्षण वृद्धिशील), अविच्छिन्न (विच्छेद रहित), सूक्ष्मतरम् (अत्यन्त सूक्ष्म), अनुभवरूपम् (मात्र अनुभव स्वरूप) ॥५४

(प्रेम) अविच्छिन्न धारा में प्रतिपल वृद्धिशील, कामना और गुणादि से रहित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति स्वरूप होता है॥५४

प्रेम का स्वरूप मुख से क्यों नहीं कहा जा सकता, उसे इस सूत्र में श्री नारद बताते हैं। इसके द्वारा काम और प्रेम की भिन्नता भी कही गयी है।

पहले ही कहा गया है कि प्रेम अन्तःकरण के अनुभव की वस्तु है। वह अनुभव कैसा होता है? प्रतिक्षण हमलोग का अनेक विषयों का अनुभव करते रहते हैं—फिर वहाँ चले जाते हैं वे सारे अनुभव! कोई भी

अनुभव स्थायी नहीं होता है। प्रेम का अनुभव वैसा क्षणिक नहीं है। जैसे अपने अस्तित्व के अनुभव को हम किसी समय छोड़ नहीं पाते, वैसे ही सौभाग्यवश प्रेम का उदय होने पर वह अनुभव प्रेमी को फिर कभी छोड़ नहीं पाता। इसीसे वैष्णव कवि कहते हैं प्रीति (पि-रि-ति) इन तीन अक्षरों की तुलना नहीं—

'सकल सुखेर आखर ए तिन,
तुलना दिबो जे कि ?
रसेर सागर ए तिन आखर,
तुलना दिबो जे कि ?
(सभी सुखों के अक्षर हैं ये तीन,
इनकी तुलना क्या दूँ ?
रस का सागर हैं ये अक्षर तीन,
इनकी तुलना क्या दूँ ?)

गुणों में कमी-बेशी होती रहती है। गुण के लिए यदि किसी को भी प्रेम किया जाता है, तो गुण के क्षय से वह प्रेम भी चला जाता है। गुण-दोष के आधार पर ही मन या इन्द्रियाँ वस्तु-विशेष के ऊपर आसक्त या विरक्त होती हैं। जिस पदार्थ का कोई गुण है, जिसे कोई विशेषण देकर हम विशेषित कर पाते हैं, वाक्यों के द्वारा केवल उसी पदार्थ का वर्णन सम्भव है। किन्तु प्रेम को तो कोई विशेषण देना संभव नहीं। लौकिक प्रेम की गंभीरता में भी हम देखते हैं कि प्रीति प्रेमास्पद के गुण-दोष की अपेक्षा कर उद्भूत नहीं होती, बल्कि वह प्रेमी के हृदय से स्वतः प्रस्फुटित होती है। फिर, प्रेम में सत्व, रजः, तमः, इन तीनों गुणों में से किसी का लेशमात्र भी प्रवाह नहीं रहता। इन तीन गुणों के होते ही हमलोग कभी सुख और कभी दुःख का भोग करते हैं। जब तक 'कच्चा मैं' रहता है तब तक इस सुख-दुःख का भोग होता है। किन्तु 'कच्चा मैं' के नहीं जाने पर प्रेम का स्वाद नहीं मिलता। और 'कच्चा मैं' गया तो तीन गुणों का बन्धन भी मिट गया। यह बात अन्य रीति से भी कही

जा सकती है। तीन गुणों से विगत हो जाने पर साधक के 'कच्चा मैं' का नाश हो जाता है और उसमें प्रेम का उदय होता है। इसी से प्रेम गुणरहित होता है।

प्रेम में किसी कामना का स्थान नहीं है। कामना की पूर्ति होते ही काम्य वस्तु के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है। कामनापूर्ति में असंभावना होने पर काम्य वस्तु के प्रति विरक्ति आ सकती है। किन्तु प्रेम में कामना की नाममात्र की गंध नहीं रहती—

इसलिए इसका क्षय भी नहीं होता। प्रेमी अपने प्रेमास्पद के निकट उपस्थित होने पर अपनी किसी स्वार्थ-सिद्धि की आकांक्षा नहीं करते प्रेमास्पद के सुख से ही वे सुखी होते हैं।

काम से उत्पन्न प्रेम में भोग के बाद अवसाद होता है। भोग का आनन्द चाहे कितना ही मधुर और कितना ही गंभीर क्यों न हो, अधिक दिनों तक उसमें डूबे रहना संभव नहीं होता एक-न-एक दिन उसमें अरुचि उत्पन्न होती ही है। किन्तु प्रेम में अवसाद नहीं है— जितना ही इसका आस्वादन किया जाय, आनन्द की मात्रा उतनी ही बढ़ती रहती है।

फिर प्रेमानुभव में विच्छेद या अवकाश नहीं होता। प्रेमी का जो विरह है वह रसास्वादन का प्रकारान्तर मात्र है। प्रेम की गहनता में प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच का व्यवधान भी मिट जाता है।

प्रेम को सूक्ष्मतर कहा गया है। बुद्धि चाहे कितनी भी सूक्ष्म और परिमार्जित क्यों न हो, उस बुद्धि के द्वारा प्रेम की नाप-तौल करने जाते ही प्रेम दूर चला जाता है। फिर प्रेमी के हृदय का अनुभव अन्य किसी की भी बुद्धि-विचार के द्वारा पकड़ में नहीं आता।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति,
तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥५५॥

[प्रेमी] तत् (उस प्रेम को) प्राप्य (प्राप्त कर) तत् एव (केवल उसी प्रेम को) अवलोकयति (दर्शन करते हैं), तत् एव (उसे ही)

शृणोति (श्रवण करते हैं), तत् एव (उसे ही), भाषयति (बोलते हैं), तत् एव (उसका ही), चिन्तयति (चिन्तन करते हैं) ॥५५॥

इस प्रेम को प्राप्तकर प्रेमी केवल इस प्रेम का ही दर्शन करते है, इसी प्रेम का श्रवण करते हैं, इसी प्रेम का वर्णन करते हैं एव इसी प्रेम का चिन्तन करते है ॥५५

प्रेमी के लिए प्रेम और प्रेममय में अभेद होता है। इष्ट-प्रेम में जब वे प्रेम विभोर होते हैं, तब उनके इन्द्रिय-मन-बुद्धि के समक्ष और अन्य किसी विषय का प्रकाश नहीं होता; इस अवस्था में उनके सारे चिन्तनो और सारी चेष्टाओं का प्रेमास्वादन में पर्यवसान हो जाता है। इष्ट को ही भीतर-बाहर देखने, उनकी ही बात सुनने, उनके विषय में ही बोलने तथा उनका ही चिन्तन करने के सिवा प्रेमी को और कोइ कार्य नही रहता।

"उन्हें चर्मचक्षु से नही देखा जा सकता। वे दिव्य चक्षु प्रदान करते है तभी उन्हे देखा जाता है। विश्व-रूप का दर्शन कराने के समय भगवान् ने अर्जुन को दिव्यचक्षु प्रदान किया था। —साधना करते-करते एक प्रेम का शरीर हो जाता है और उस शरीर को प्रेम की आँखे और प्रेम के कान हो जाते हैं; उन्ही आँखो से वह ईश्वर को देखता है, उन्हीं कानों से ईश्वर की वाणी सुनी जाती है। फिर प्रेम का ही लिंग और योनि होती है।" —यहाँ तक सुनकर स्वामी विवेकानन्दजी (तब श्रीनरेन्द्रनाथ) हँस पड़े थे। किन्तु श्रीरामकृष्णदेव शिष्य के अविश्वास से रचमात्र खिन्न हुए बिना कहने लगे, "इस प्रेम के शरीर का आत्मा के साथ रमण होता है।"

यह तो अनुभव का विषय है! मन-बुद्धि के अशुद्ध रहने पर इसे कैसे समझ सकते है?

"ईश्वर के प्रति पर्याप्त प्रेम नही होने पर चारो ओर ईश्वरमय देखना संभव नही हो पाता। तब फिर 'वे मैं हू' इसी का बोध होता है। अधिक नशा होने पर शराबी कहता है, 'मैं ही काली हू'। रात-दिन ईश्वर का चिंतन करने पर उन्हे चारों ओर देखा जाता है। जैसे दीपशिखा की ओर

काफी देर तक एक दृष्टि में निहारते रहने पर कुछ क्षणों के बाद चारों ओर शिखा दिखाई पडती है ।"

"भक्ति की प्रबलता रहने पर प्रत्येक मनुष्य में ही ईश्वर का दर्शन होता है। प्रेमोन्माद होने पर सभी जीवों में ईश्वर का साक्षात्कार होता है। गोपियों ने सभी जीवों में श्रीकृष्ण का दर्शन किया था। उनमें से प्रत्येक ने कहा था, 'मैं श्री कृष्ण हूँ।' पेडों को देखकर वे कहती थी, 'ये तपस्वी हैं—श्रीकृष्ण का ध्यान कर रहे हैं।' तृणों को देखकर कहती थी, 'श्रीकृष्ण का स्पर्श कर पृथ्वी को रोमांच हो गया है।' उस समय उनकी उन्माद की अवस्था थी।"

"सही-सही भक्ति होने पर सामान्य वस्तु से भी ईश्वर की उद्दीपना होकर भक्ति-भाव से भक्त विभोर हो जाता है। चैतन्यदेव ने एक बार मेड-गाँव से होकर जाते-जाते सुना, इस गाँव की मिट्टी से मृदंग का खोल बनाया जाता है। तुरन्त ही वे भाव-विभोर हो गये—क्योंकि, कीर्तन के समय मृदंग बजता है। मेघ को देखने पर मयूर को उद्दीपन होता है। तब आनन्द से अपने पंख फैलाकर वह नृत्य करता है। जब किले के मैदान में मुझे बैलून दिखाने ले गया था तब मैंने देखा कि अंग्रेज का एक लड़का एक पेड पर टेक लगाकर त्रिभंगी मुद्रा में खड़ा था। देखते ही तुरत कृष्ण का उद्दीपन हुआ और मैं समाधिस्थ हो गया। बादल अथवा मयूर का कण्ठप्रदेश देखकर श्रीमती राधिका को श्रीकृष्ण का उद्दीपन होता था और वे बाह्य शून्य हो जाती थी।"

"भक्त को भी एकाकार का ज्ञान होता है। वह देखता है, ईश्वर ही सब कुछ हो गये हैं। ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जब पक्की भक्ति होती है, तब इसी प्रकार का बोध होता है। बहुत पित्त के जम जाने पर जब पीलिया रोग हो जाता है तब सबकुछ पीला दिखाई पड़ता है। श्याम का चिंतन करते-करते राधा ने सब कुछ श्याममय देखा, और स्वयं भी वह अपने को श्याम ही समझने लगी। भक्त भी ईश्वर का चिंतन करते-करते अहं शून्य हो जाता है। फिर वह देखता है, "वे ही मैं हैं मैं ही वे हूँ।"

"ईश्वर के प्रति जब प्रेम होता है तब केवल उनकी ही कथा कहने और सुनने की इच्छा होती है।"

"त्यागीजन कामिनी-कांचन से मन हटाकर उसे केवल भगवान को अर्पित करते हैं। उनको ईश्वर को छोड़कर और कुछ अच्छा नहीं लगता। जो लोग ठीक-ठीक त्यागी हैं, वे लोग ईश्वरीय बात को छोड़कर अन्य बात मुँह पर नहीं लाते। जहाँ विषय चर्चा होती है, उस स्थान से वे चले जाते हैं। मधु-मक्खी को मधु छोड़कर कोई अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती। वे फूल पर बैठती हैं—केवल मधुपान के लिए।"

"एकबार ईश्वर के आनन्द का आस्वाद पा लेने पर उस आनद के लिए (भक्त) छटपटाता रहता है। तब संसार रहे या जाय! भगवान् के अनन्द को पा लेने पर सतार निःस्वाद लगता है। तब कामिनी और कांचन की बात से हृदय फटने लगता है। दुशाला पा लेने पर दूसरी चादर अच्छी नहीं लगती। ईश्वरानन्द के सामने विषयानन्द और रमणानन्द! ईश्वर के रूप का चिंतन करने पर अप्सराओं का रूप चिता की राख के समान लगता है।"

"हनुमान ने कहा था, 'मैं तिथि-नक्षत्र नहीं जानता, मैं मात्र एक राम का चिन्तन करता हूँ।' ईश्वर पर सोलहों आने मन लगने पर वही अवस्था हो जाती है। राम ने कहा, 'हनुमान, तुमने सीता का संवाद लाया है, उसे कैसा देखा, बोलो!' हनुमान ने कहा, हे राम मैंने देखा कि सीता का केवल शरीर पड़ा हुआ है। उसके भीतर मन-प्राण नहीं हैं। सीता ने अपने मन-प्राण तो आपके पाद-पद्मों पर समर्पण कर दिये हैं!"

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादि भेदाद् वा ॥५६॥

गुणभेदात् (गुणभेद—सत्त्व, रजः और तमः तीन प्रकार के गुणभेद के कारण), वा (अथवा), आर्तादिभेदात् (आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त के इन तीन प्रकार के भेदों के कारण), गौणी (गौणी भक्ति), त्रिधा (तीन प्रकार की) [होती है] ॥५६

सत्त्व, रजः और तमः—इन त्रिविध गुण भेद के कारण, अथवा आर्त

जिज्ञासु और अर्थार्थी—भक्तों के इन तीन प्रकार के भेदों के कारण, गौणी भक्ति तीन प्रकार की होती है। ५६

यहाँ तक जिस प्रेमा भक्ति के विषय का वर्णन हुआ, उसका प्रकाश बहुत कम भाग्यवान् व्यक्ति के जीवन में देखा जाता है। प्रह्लाद की भाँति गुणातीत भक्त, जो भगवान की प्रसन्नता के लिए ही प्रेम करते हैं, संसार में अति विरल हैं। अधिकांश भक्त गौणी या वैधी भक्ति का ही अवलम्बन कर भगवान् की ओर अग्रसर होते हैं।

सात्विक, राजसिक और तामसिक भक्त का लक्षण भगवान् कपिल द्वारा इस प्रकार वर्णित हुआ है—

अभिसन्धाय यो हिंसा दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः ॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद् यो मां पृथग् भावः स राजसः ॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥

भा० ३।२९।८-१०

अर्थात्—'जो भेददृष्टिसम्पन्न क्रोधी पुरुष अपने भीतर हिंसा, दम्भ और ईर्ष्या रखकर मेरा भजन करता है वह मेरा तामसिक भक्त है। विषय, यश या ऐश्वर्य की कामना रखकर जो भेददर्शी व्यक्ति प्रतिमा आदि में मेरी अर्चना करता है, वह राजसिक भक्त है। और जिस व्यक्ति का भेद-भाव तो नहीं जाता, किन्तु जो अपने पापक्षय के उद्देश्य से एवं ईश्वर की प्रीतिकामना के लिए कर्त्तव्य-बोध से मेरी उपासना करता है, वह मेरा सात्विक भक्त है।

इसलिए, यहाँ देखा गया कि तामसिक, राजसिक और सात्विक—इन तीनों श्रेणियों के भक्तों में भेद-ज्ञान रहता है, केवल गुणातीत भक्तों में ही अभेद-बोध उत्पन्न होता है।

बृहत् नारदीय पुराण में इन सात्विक आदि त्रिविध भक्तियों में से प्रत्येक को, उत्तम, मध्यम, और अधम भेद के अनुसार तीन-तीन भागों में विभक्त किया गया है। यथा—

जो व्यक्ति दूसरे के विनाश के लिए श्रद्धापूर्वक हरि का भजन करता है, उसकी वह तामसी भक्ति अधम कोटि की होती है। कपटतापूर्वक भगवान की जो भक्ति की जाती है, वह मध्यम श्रेणी की तामसी भक्ति है। दूसरे को ईश्वर की अराधना में रत देखकर ईर्ष्या के वशीभूत हो यदि कोई भगवान् की उपासना में रत हो तो उसकी वह तामसी भक्ति उत्तम श्रेणी की होगी।

धन और ऐश्वर्य की कामना से श्रद्धापूर्वक जो भक्ति प्रदर्शित होती है, वह अधम राजसी भक्ति है। यश की कामना लेकर परम भक्ति के साथ जो भक्त उपासना करता है, उसकी राजसी भक्ति मध्यम श्रेणी की होती है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य मुक्ति की प्रार्थना उत्तमा राजसी भक्ति से उत्पन्न होती है।

पापक्षय के लिए श्रद्धासहित उपासना करने की प्रवृत्ति अधम सात्विक भक्ति से उत्पन्न होती है। 'ये सब कर्म श्री भगवान् को प्रिय हैं'—इस प्रकार विचारकर जो भक्त कर्मसमूहों का अनुष्ठान करता है, उसकी सात्विकी भक्ति मध्यम श्रेणी की होती है। और उत्तम सात्विक भक्त दासभाव से सर्वदा श्रीभगवान् की सेवा करते हैं श्रीभगवान की महिमा का श्रवण करने से ही उनका मन तन्मय हो जाता है।

और सर्वोत्तम गुणातीत भक्त होते हैं—

अहमेव परो विष्णुर्मयि सर्वमिदं जगत्।
इति यः सततं पश्येत् तं विद्यादुत्तमोत्तमम्॥

नारदीय पुराण १४ वाँ अध्याय, २०६ श्लोक।

'मैं ही वह परम विष्णु हूँ, समस्त जगत् मेरे भीतर ही अवस्थित रहता

है — इस भाव से जो सर्वदा स्वयं को ईश्वर और जगत् के साथ अभेदभाव से देखते हैं, वे उत्तम से भी उत्तम भक्त हैं।

"भक्त तीन श्रेणी के होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम भक्त कहता है, 'जो कुछ देखता हूँ, सभी उनका एक-एक रूप है। वे ही सब हो गये हैं।' मध्यम भक्त कहता है, वे हृदय में अन्तर्यामी के रूप में रहते हैं।' अधम भक्त कहता है, 'वहाँ ईश्वर है' —ऐसा कह कर आकाश की ओर वह दिखा देता है।"

'जिसका जैसा भाव होता है, वह ईश्वर को उसी प्रकार देखता है। तमोगुणी भक्त देखता है कि काली माँ छागल खाती है, और वह बलि प्रदान करता है। रजोगुणी भक्त अनेक प्रकार के व्यंजन भोजन बनाकर अर्पित करता है। सत्वगुणी की पूजा दूसरों को दिखाई नहीं पड़ती। उसकी पूजा में आडम्बर नहीं होता। फूल नहीं मिले तो बेलपत्र गंगाजल अर्पित कर पूजा करता है। थोड़ी मुरकी या बताशा से अपराह्न में भोग निवेदित करता है। अथवा कभी भगवान् को थोड़ी खीर बनाकर देता है। और है त्रिगुणातीत भक्त। उसका बालक जैसा स्वभाव होता है। भगवान् का नाम-जप करना ही उसकी पूजा है।"

"तमोगुणी और रजोगुणी—आर्त और अर्थार्थी भक्त कामना परायण होते हैं। सकाम भक्ति करते-करते निष्काम भक्ति होती है। ध्रुव ने तपस्या की थी राज्य प्राप्ति के लिए किन्तु, उन्होंने भगवान को पाया था। उन्होंने कहा था— 'यदि काच की खोज में कोई सोना पा जाय तो उसे छोड़ेगा क्यों?'

सकाम भक्त के लिए वैधी भक्ति का विधान है।

"इतना जप करना होगा, इतना ध्यान करना होगा, इतना याग-यज्ञ, होम करना होगा,। इतने उपचार में पूजा करनी होगी, पूजा के समय इन सब मंत्रों का पाठ करना होगा, इतने उपवास करने होंगे, तीर्थों में जाना होगा, इतने बलि प्रदान करने होंगे—ये सब वैधी भक्ति हैं। ये सब प्रचुर रूप में करते-करते तब राग भक्ति आती है। वैधी भक्ति जैसे आती है, वैसे ही जाती भी है।"

"शास्त्र में अनेक कर्म करने को कहा गया है, इसीसे करना हूँ"— ऐसी भावना को वैधी-भक्ति कहते हैं। शुरू में अपने पाप पर थोड़ा विचार करना होगा, कैसे पाप ने मुक्ति होगी, इसके लिए व्याकुल होकर प्रार्थना करनी होगी। किन्तु, उनकी कृपा से यदि एकबार प्रेम या रागानुगा भक्ति आ जाय तब पाप-पुण्य सब विस्मृत हो जाते हैं।"

उत्तरस्मादुत्तरस्मात् पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥५७॥

उत्तरस्मात् उत्तरस्मात् (उत्तरोत्तर से), पूर्वपूर्वा (पूर्व-पूर्व प्रकार की भक्ति) श्रेयाय (अधिकतर मंगल दायक), भवति (होती है) ॥५७

उत्तरोत्तर प्रकार की भक्ति की अपेक्षा पूर्व-पूर्व प्रकार की भक्ति अधिकतर कल्याणकारिणी होती है ॥५७

साधना के द्वारा तमोगुणी मन को रजोगुणप्रवण करना होगा। फिर क्रमशः रजोगुण का परिहारकर सत्वगुण के आश्रय के लिए प्रयत्नशील होना होगा। इसीसे श्रीनारद कहते हैं, तामसिक भक्ति से राजसिक भक्त और राजसिक से सात्विक श्रेष्ठ है। सात्विक भक्ति से गुणातीत भक्ति की प्राप्ति की संभावना होती है। इसी प्रकार आर्त की अपेक्षा अर्थार्थी एवं अथार्थी की अपेक्षा जिज्ञासु भक्त श्रेष्ठ होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के ७ वें अध्याय के १६ वें श्लोक में 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी'—कहकर जो अर्थार्थी की अपेक्षा जिज्ञासु को तथा जिज्ञासु की अपेक्षा आर्त को श्रेष्ठत्व प्रदान किया है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। ऐसा होने पर ज्ञानी भक्त का स्थान सब से नीचे हो जाता है। तब यदि आर्तभक्ति का अर्थ भगवान् के लिए चरम व्याकुलता को लक्ष्य किया जाय, तो ऐसा होने पर आर्त भक्ति को प्रथम स्थान दिया जा सकता है।

□

अष्टम अनुवाक

भक्ति का वैशिष्ट्य

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥५८॥

अन्यस्मात् (दूसरे सभी प्रकार के साधनों से) भक्तौ (भक्ति की साधना में) सौलभ्यम् (सुलभता है) ॥५८

अन्य सारे साधनों की अपेक्षा भक्तिपथ सहज है ॥५८

पहले श्रीनारद ने कहा है कि भक्ति ही श्रेष्ठ है। अब कहते हैं कि अन्य सारे मार्गों की अपेक्षा भक्ति केवल श्रेष्ठ ही नहीं है, बल्कि अन्य सारे मार्गों की अपेक्षा निश्चय ही सहज भी है। इस पथ मे सब का अधिकार है। इसमे जाति, कुल, विद्या, वय, देश और काल आदि की अपेक्षा नही है।

प्रेम करना तो जीव के स्वभाव मे ही है। हृदय की प्रीति, जो दिन-रात उत्पन्न होती रहती है—उसे किसी व्यक्ति या वस्तु को अर्पित किये बिना जीव स्थिर नही रह पाता। बुद्धि की मलिनता के कारण जब तक प्रकृत प्रेमास्पद को हम ढूंढ नही पाते तबतक वह प्रेम अपात्र को अर्पण कर, उसके फलस्वरूप हमलोग केवल दुःख का बोझ ढोकर मरते हैं। किन्तु, ईश्वर की कृपा से जब मन का भ्रम मिट जाता है, तब प्रेम का प्रवाह सहज ही ईश्वर की ओर हो जाता है। प्रेम की डोर मे वे हृदय-मंदिर मे बंध जाते हैं। इसी से उन्हे भरे हृदय से पुकारने की भांति सहज साधना और कुछ नही है।

'ज्ञानयोग या कर्मयोग तथा अन्य पथो से भी ईश्वर के समीप जाया जाता है, किन्तु भक्तिमार्ग मे उनके निकट सहज ही पहुचा जाता है। जो ब्रह्मज्ञान चाहते है, वे यदि भक्तिमार्ग से भी जायें तब भी, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते ह। इसका यह अर्थ नहीं कि भक्त एक जगह पहुंचेगा और ज्ञानी या कर्मयोगी

किसी दूसरी जगह। भक्तवत्सल भगवान चाहे तो ब्रह्मज्ञान दे सकते हैं। ईश्वर यदि खुश हो तो, भक्ति भी देते हैं, ज्ञान भी देते हैं।"

"भक्ति के द्वारा ही ईश्वर का दर्शन होता है। भाव-समाधि में रूप-दर्शन होता है, और निर्विकल्प-समाधि में अखण्ड सच्चिदानन्द का दर्शन होता है—तब अहं, नाम, रूप आदि नहीं रहते।"

"शास्त्र में जिन सब कर्मों की बात कही गयी है, उन कर्मों के लिए समय कहाँ है? एक तो जीव की स्वल्प आयु है, फिर उसके अन्नगत प्राण हैं—कठोर तपस्या कैसे करेगा? यदि कर्म करने कहो, तो कुछ अप्रयोजनीय अंश छोड़कर करने कहना।

"कलियुग में ज्ञानयोग भी बड़ा कठिन है। देहाभिमान किसी भी प्रकार से छूटता नहीं। देहबुद्धि के रहने से ही विषयबुद्धि साथ रहेगी, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द— ये सारे विषय हैं। विषयबुद्धि का जाना बड़ा कठिन है, विषयबुद्धि के रहने पर—'सोऽहं' का ज्ञान नहीं होता।"

भक्तिमार्ग के द्वारा ईश्वर क्यों सुलभ हैं; यही बात अभी यहाँ श्रीनारद ने कही है।

प्रमाणान्तरस्य अनपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात् ॥५९॥

[यह भक्ति] स्वयं (आप ही) प्रमाणत्वात् (चूँकि प्रमाणस्वरूप है) [इसलिए] प्रमाणान्तरस्य (अन्य प्रमाणों की) अनपेक्षत्वात् (अपेक्षा नहीं है) [भक्ति में] ॥५९

भक्ति के अन्य प्रमाणों की ओर आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भक्ति स्वयं ही प्रमाणस्वरूपा है ॥५९

अनजाने विषय को जानने के लिए अनेक प्रमाणों का प्रयोजन होता है। फिर प्रमाण की योग्यता के सम्बन्ध में अनेक सन्देह उठ सकते हैं। किन्तु भक्ति को किसी प्रमाण का प्रयोजन नहीं है। भक्ति अनुभव की वस्तु है। और

अनुभव सर्वश्रेष्ठ प्रमाण होता है। भक्त भक्ति के अविर्भाव का अपने हृदय मे ही अनुभव करते हैं। कर्म, ज्ञान या योग के मार्ग मे साध्य को प्रत्यक्ष करने के लिए साधक को प्रत्येक क्षण अपने मन के साथ लड़ाई करनी पड़ती है। किन्तु भक्त की साधना शुरू होती है साध्यवस्तु को लेकर। इसी से भक्ति-मार्ग मे ईश्वर सुलभ होते हैं।

असुर बालकों को प्रह्लाद ने कहा था—

न ह्यच्युत प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजा ।
आत्मत्वात् सर्वभूताना सिद्धत्वादिह् सर्वत ।

भा० ७।६।१९

श्री हरि को प्रेम करने के लिए विशेष प्रयास की आवश्यकता नही होती। वे तो समस्त प्राणियो की आत्मा और सर्वत्र विराजमान हैं।

भक्ति की श्रेष्ठता के और भी कारण हैं—

शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च ॥६०॥

शान्तिरूपात् (शान्तिस्वरूप होने से) च (एवं) परमानन्दरूपात् (परमानन्दस्वरूप होने से) [भक्ति की साधना सुलभ है] ॥६०

शान्तिस्वरूप और परमानन्द स्वरूपा होने से भक्ति की साधना सुलभ है ॥६०

शान्ति और आनन्द का हमलोग अपने हृदय मे अनुभव करते हैं। इनके अनुभव के लिए बाहर के किसी प्रमाण की जरूरत नही होती। शांति और आनन्द के लिए हमलोग कितने सारे काम करते हैं। किन्तु विषयभोग से क्षणिक शान्ति, तुच्छ आनन्द पाते हैं, *उसमे स्थायी शान्ति या परमानन्द की प्राप्ति* नही होती। पराभक्ति मे केवल प्रेमास्पद को लेकर आनन्द का अनुभव होता है। इसीसे पराभक्ति की प्राप्ति से जीवन सार्थक होता है।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदशीलत्वात् ॥६१॥

निवेदितात्मलोकवेदशीलत्वात् (स्वयं को, संसार की सारी वस्तुओं को तथा शास्त्रीय आचार आदि सब को भगवान को निवेदित करने के फलस्वरूप) [भक्त को] लोकहानौ (अपने धन-जन आदि के विनाश से) चिन्ता न कार्या (चिन्ता नहीं करनी चाहिए) ॥६१

अपने आपको और अपनी सारी वस्तुओं तथा शास्त्रीय आचार आदि को भक्त भगवान को निवेदित कर देते हैं, इसलिए वे फिर धन-जन आदि का विनाश होने पर चिन्तित नहीं होंगे ॥६१

भक्त को अपना कहकर कुछ नहीं रहता। धन-जन सब कुछ इष्ट के चरणों में समर्पण कर वे एकान्तभाव से ईश्वर के हो जाते हैं। इष्ट ही उनका एकमात्र अपना धन होता है। इसीसे धन के नाश होने, आत्मीय जन की मृत्यु होने या स्वजन-विच्छेद होने पर वे कातर नहीं होते। चूंकि भक्त संसार में इष्ट का प्रकाश देखते हैं, इसलिए वे संसार की सेवा करते हैं।

"एक व्यक्ति ने किसी पहाड़ के ऊपर बड़े कष्ट से एक कुटिया बनायी थी। एक दिन जोरों की आँधी उठी। इससे कुटिया हिलने-डुलने लगी। वह व्यक्ति बड़ी चिन्ता में पड़ गया। तब उसने कहा, 'हे पवनदेव, देखो, घर जिससे टूटे नहीं, बाबा!' पवनदेव सुनते है नहीं। घर चड़मड़ाने लगा। तब उसने एक फन्दा खड़ा किया। पवन के पुत्र तो हनुमान है। तब वह जल्दी-जल्दी बोलता है—'बाबा, यह हनुमान का घर है, देखो, इसे तोड़ो नही।' किन्तु तब भी घर चड़मड कर रहा है। जब उसने देखा कि इससे कुछ भी नहीं हुआ, तब कहता है, 'बाबा, यह लक्ष्मण का घर है, लक्ष्मण का घर है।' इससे जब आँधी नही रुकी, तब वह कहता है—'बाबा, यह राम का घर है, राम का घर है' किन्तु आँधी ने किसी की दुहाई नहीं मानी। चड़मड़ा कर घर टूटने लगा। प्राण बचाने के लिए घर से बाहर आने के समय वह व्यक्ति कहने लगा,—'जा! साले का घर।' जो कुछ होता है, ईश्वर की इच्छा से होता है, यह जानना। उनकी इच्छा से हुआ, उनकी इच्छा से जाता है। तुम क्या करोगे ?"

न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेय किन्तु फलत्यागस्तत्साधनञ्च कार्यमेव ॥६२॥

तत् असिद्धौ (भगवान को सर्वस्व अर्पण नहीं कर पाने तक) लोकव्यवहार (लौकिक आचार व्यवहार) न हेय (निन्दित समझकर त्याग नहीं करना), किन्तु फलत्याग (कर्मफल का त्याग) च (एवं) तत्साधन (कर्मफल के त्याग के लिए साधना अर्थात् अभ्यास) कार्यम् एव (करना उचित है ॥६५

ईश्वर में सर्वतोभावेन आत्मार्पण नहीं कर पाने तक लौकिक आचार-व्यवहार का बलपूर्वक त्याग नहीं करना चाहिए। किन्तु कर्मफल का त्याग कर एवं फल की कामना के त्याग के अभ्यास के साथ सारे कर्म करते जाना उचित है ॥६२

इस सूत्र का पाठान्तर 'न तत् सिद्धौ लोकव्यवहारो हेय' इत्यादि है। यह पाठ ग्रहण करने पर इसका अर्थ होगा, 'भक्ति लाभ होने पर भक्त का लौकिक-कर्मों का त्याग करना होगा, ऐसी बात नहीं है।'

प्रेम के उदय से इष्टदेव के चरणों में आत्मार्पण करना जबतक सहज नहीं होता, तबतक कर्म करते रहना होगा। कर्मत्याग का समय होने पर अपने आप कर्म छूट जायगा। प्रेम के उदय होने पर जो कर्मत्याग होता है उस त्याग में अहं बोध या कर्तापन का बोध नहीं रहता। बलपूर्वक कर्म का त्याग मोह के वशीभूत होने से होता है। उस त्याग से अपना तो कल्याण होता नहीं, समाज का भी अकल्याण होता है। इष्ट के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करने की साधना जब तक जीवन में सहज नहीं हो जाती, तब तक कर्म के फल का त्याग कर, फल इष्ट को अर्पण कर, लौकिक तथा शास्त्रविहित कर्म करते रहना होगा। जब तक 'कच्चा मैं' प्रबल रहता है, तब तक निष्काम कर्म करना सम्भव नहीं होता। जब 'मैं' पक्का हो जाता है, इष्ट के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है—तब से जो कर्म अनुष्ठित होता है वह कर्म फिर 'मेरा' कर्म नहीं रहता— वह कर्म मेरे आराध्यदेव

का हो जाता है। मुझे यन्त्रस्वरूप बनाकर अपना कर्म वे स्वयं करते है। मेरे ये देह-मन प्राण उनकी विचित्र विश्वलीला के सहायक मात्र हैं। अपना अभिप्राय वे स्वयं समझते हैं। मेरा कर्त्तव्य है—सामने जो आ पड़े उसे उनके नाम से, उनके उद्देश्य से, सुन्दर भाव से करते जाना। ईश्वर का कार्य है, ऐसा बोध होने पर उसे सर्वाङ्ग सुन्दर करना ही पड़ता है।

स्त्री-धन-नास्तिक-वैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ॥६३॥

स्त्री-धन-नास्तिक- वैरिचरित्रं (स्त्रियों, धन, नास्तिक या अपने शत्रु के सम्बन्ध में कोई बात) न श्रवणीयम् (सुनना उचित नहीं हैं) ॥६३

स्त्रियों, धन, नास्तिक या अपने शत्रु के विषय में किसी बात को सुनना उचित नहीं है ॥६३

साधनपथ के विरोधी विषयों के प्रसंग में फिर विवेचना हो रही है। असत्सङ्ग के त्याग की बात पहले कही गयी है। अभी फिर विशेष भाव से उस प्रसंग का उत्थापन किया जाता है।

साधना पथ की सबसे प्रमुख बाधा एवं चित्तविक्षेप के प्रधान कारण हैं—कामिनी-कांचन। इसीसे साधक को इन दोनों के संग का त्याग करना होगा। संग तो दूर की बात है, इस सूत्र में इनके विषय में सुनने का भी निषेध किया जाता है। भोग्य-वस्तु के विषय में सुनने पर चित्त भोग की ओर आकृष्ट होता है।

नास्तिक के चरित्र या उसके मतवाद के विषय मे सुनना निषिद्ध है। सत्य वस्तु का जो संधान नहीं कर सका, वह विभ्रान्तिजनक तर्कजाल में अपने को आबद्ध रखकर सुखी रहता है। उसके सम्बन्ध में सुनने पर बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

फिर अनिष्टकारी शत्रु की बात भी नहीं सुननी है। भक्त सबको अपना बना लेने की चेष्टा करते हैं। किन्तु जबतक समदर्शन का भाव सिद्ध नहीं होता, तबतक शत्रु के विषय में सुनने पर हृदय में द्वेष और हिंसा की

अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तथा इसके फलस्वरूप चित्त साधना-विमुख और विषयोन्मुखी हो सकता है।

"भगवान-लाभ करने के लिए स्त्रियों से काफी दूर रहना होगा। युवती के समीप अत्यन्त सावधानी से रहने पर भी कुछ-न-कुछ काम-भाव जगकर ही रहेगा। युवती के साथ में निष्काम व्यक्ति को भी कामोद्रेक होता है।"

"मैथुन आठ प्रकार का होता है—स्त्रियों की बात सुनते-सुनते जो आनन्द होता है, उसे भी मैथुन कहते हैं। स्त्रियों के विषय में बातचीत करने से जो आनन्द होता है, उसे भी मैथुन कहते हैं। स्त्रियों के साथ एकान्त में बैठकर बात करने में जो आनन्द होता है, उसे भी मैथुन कहते हैं। स्त्रियों की किसी वस्तु को निकट रखने से जो आनन्द होता है, उसे भी मैथुन कहते हैं। स्त्रियों के विषय में गोपनीय बातों का विवेचन करने से जो आनन्द होता है, उसे भी मैथुन कहते हैं। कामभाव से स्त्रियों की ओर निहारने को भी मैथुन कहते हैं। स्त्रियों की देह का स्पर्श करने से जो आनन्द होता है, उसे भी मैथुन कहते हैं। इसी से गुरु-पत्नी के युवती होने पर उनका चरण स्पर्श नहीं करना चाहिए। वीर्यपात को मैथुन कहते हैं।"

जो ईश्वर-प्राप्ति के लिए साधन-भजन करना चाहता है, वह किसी प्रकार से भी कामिनी-कांचन में आसक्त नहीं हो। कामिनी-कांचन का संपर्क रहने पर किसी काल में भी ईश्वर-लाभ नहीं होगा। कामिनी कांचन ईश्वर-पथ के विरोधी हैं, उन से मन को हटा लेना होगा।"

"स्त्रियों के विषय में सहज ही आसक्ति होती है। स्त्रियाँ स्वभावतः ही पुरुषों को प्यार करती हैं और पुरुष स्वभावतः ही स्त्रियों को प्यार करते हैं। इसीसे दोनों ही शीघ्र गिर जाते हैं।"

श्री भगवान उद्धव को कहते हैं—

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन् मामतन्द्रितः॥

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ।
भा० ११।१४।२९-३०

'इन्द्रियों और मन को संयत कर, स्त्रियों एवं स्त्रियों के प्रति आसक्त लोगों के संग का त्यागकर, निर्जन एवं पवित्र स्थान में निवास कर, सावधानतापूर्वक मेरा चिन्तन करना। स्त्रियों एवं स्त्रियों के वशीभूत पुरुषों के संग से मनुष्य के समक्ष जिस प्रकार दुःख और बन्धन आ उपस्थित होते हैं, उस प्रकार और किसी से नहीं होता।'

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥६४॥

अभिमानदम्भादिकं (अभिमान, दम्भ आदि का) त्याज्यम् (त्याग करना चाहिए) ॥६४

अभिमान, दम्भ आदि का त्याग करना चाहिए ॥६४

'आदि' शब्द के द्वारा काम-क्रोध आदि हीन मानसिक वृत्तियाँ जानी जाती हैं। इन सबका त्याग करना होगा।

बाहरी बाधा की अपेक्षा भीतर की बाधा अधिकतर प्रबल होती है। हमलोगों के सभी दुःखों के मूल में है— यही 'कच्चा मैं'। 'मैं' के मर जाने से ही संसार का जंजाल मिट जायगा। 'मैं प्रभु का भक्त हूँ।'—यह अभिमान अच्छा है—यह अभिमान हमलोगों को अनुचित कार्य करने से रोकता है। किन्तु —'चूँकि मैं सेवा-पूजा करता हूँ, मैं भक्त हूँ, इसलिए मैं दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ, दूसरों की भक्ति और श्रद्धा का पात्र हूँ',—इस प्रकार का अहंकार 'कच्चा मैं' से उत्पन्न होता है और साधक को पतन के पथ पर ले जाता है।

'मैं कर्ता हूँ'—जीव का यह अभिमान अज्ञान से उत्पन्न होता है। अहंकार के रहते मुक्ति नहीं हो सकती। नीचा होने पर ही ऊँचा हुआ जाता

है। अहंकार करना व्यर्थ है, धन-मान-यौवन कुछ भी बहुत दिनों तक नहीं रहेंगे।

"मैं-मैं करने पर कैसी दुर्गति होती है, यह बैल की हालत देखने पर ही समझ सकोगे। बैल हाम्बा-हाम्बा (मैं-मैं) करता है, इसी से इतनी यातना झेलता है। गर्मी हो, वर्षा हो—सुबह से शाम तक हल जोतना पड़ता है। कसाई उसे काट डालता है। लोग उसका मांस खा जाते हैं। चमड़े से जूता बनता है या ढोलक छाने का चमड़ा बनता है। जूता पहनकर उससे कितना चला जाता है, ढोलक को लकड़ी से कितना पीटा जाता है! तब भी निस्तार नहीं, अंत में उसकी आँत से ताँत बनती है। तब धुनियें के हाथ में पड़कर तू-ही तू-ही करने पर निस्तार हुआ। तू-ही, तू-ही (तुम-तुम) अर्थात् हे ईश्वर, तुम कर्त्ता हो और मैं अकर्त्ता हूँ।"

"अभिमान का त्याग करना बड़ा कठिन है। यह विचार करते हो कि अभिमान कुछ नहीं है, फिर कहाँ से वह आ जाता है? अभिमान की जड़ मरने पर भी नहीं टूटती। सपने में भय हुआ है। नींद टूटने पर जग उठे हो। तब भी छाती धक्-धक् करती है। अभिमान ठीक उसी तरह है। तारण देने पर भी फिर कहाँ से आ जाता है!"

"मैं" का त्याग नहीं करने पर नहीं होगा। 'मैं' रूपी टीले को भक्ति के जल में भिगाकर समतल कर दो—'कच्चा मैं' का त्याग करना होगा। 'पक्का मैं' में दोष नहीं है। 'कच्चा मैं'—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं कायस्थ हूँ, मैं अमुक का लड़का हूँ, मैं अमुक का पिता हूँ, ये सब अविद्या के 'मैं' हैं—जिनमें मैं कर्त्ता हूँ, मैं विद्वान् हूँ, इन्हीं सब का बोध होता है। ऐसा चिन्तन बन्धन ले आता है और 'पक्का मैं' है—बालक का मैं, विद्या का मैं, ईश्वर के दास का मैं, भक्त का मैं— इसे खाते, सोते, बैठते हर समय स्मरण रखना चाहिए।"

"टीले पर खेती नहीं होती। गहरी जमीन चाहिए। उसी में पानी जमा होता है, तब खेती होती है। इसी प्रकार जहाँ अहंकार है, वहाँ उनकी कृपा का जल ठहर नहीं पाता। दीन-हीन भाव ही अच्छा है। अभिमान-अहंकार ज्ञान से होता है कि अज्ञान से होता है, बताओ? अहंकार तमोगुण है, वह

अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह अहंकार ही पर्दा है, जिससे ईश्वर को नहीं देखा जाता है। सामान्य आधार होने पर गेरुआ पहनने से अहकार होता है; हल्की त्रुटि होने पर क्रोध होता है, अभिमान होता है।"

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी स्वभावयुक्त व्यक्तियों में दम्भ (धर्मध्वजिता), दर्प (धन-जन आदि के लिए दर्प), अहकार, क्रोध, कर्कश स्वभाव आदि दोष देखे जाते हैं। गीता १६।४

आसुरी स्वभाव से युक्त व्यक्तियों की मनोवृत्ति किस प्रकार हीन होती है और इस प्रकार के स्वभाव के फलस्वरूप उन लोगों का कैसा अधः पतन होता है इस विषय में भगवान बाद में कहते हैं।

आसुरी स्वभाववाले व्यक्ति, किस उपाय से धर्म मे प्रवृत तथा अधर्म से निवृत होना होगा, यह नहीं जानते हैं। वे सब शौच और सदाचार का पालन नहीं करते, सत्य का अनुसरण भी नहीं करते। वे कहते हैं, 'यह ससार मिथ्या व्यवहार से चलता है, यहाँ धर्म-अधर्म का कोई स्थान नहीं है, इसके नियन्ता कोई ईश्वर भी नहीं हैं। यह संसार काम के वशीभूत स्त्री और पुरुष के सम्मिलन से उत्पन्न है; इसका कोई कारण नहीं है।' विश्व के विनाश के लिए इस प्रकार के हित-अहित के विचार से शून्य, हीनबुद्धि, निष्ठुर व्यक्ति जन्म ग्रहण करते हैं। उनका अन्तःकरण अशेष कामना-वासना से परिपूर्ण रहता है। धर्मध्वजिता, अहकार और अभिमान में मत्त होकर ये सब व्यक्ति मोहाभिभूत हो असत् उपायों का अवलम्बन कर विविध अमंगलकारी कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। काम के उपभोग में ही जीवन की सार्थकता है, ऐसा विचारकर सैकड़ों आशा-पाश में बद्ध ये कामी और क्रोधी व्यक्तिगण अपनी भोग-वासना को पूर्ण करने के उद्देश्य से आजीवन अनुचित उपायों के सहारे धन इकट्ठा करने की चेष्टा करते हैं। आज मुझे यह लाभ हुआ है, मेरी यह मनोकामना भविष्य में पूरी होगी, आज मुझे यह धन है, भविष्य में मेरा और भी इतना ऐश्वर्य बढ़ेगा, इन सब शत्रुओं का मैंने नाश किया है, भविष्य में बचे हुए सभी शत्रुओं का ध्वंस करूँगा, मैं महाऐश्वर्यशाली और शक्तिमान् हूँ, मैं भोगी, सुखी और सदवंश में उत्पन्न हूँ, मेरे समान संसार में कोई और

नहीं है। मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, आनन्द करूँगा, इस प्रकार के अनगिनत चिन्तनों के वशीभूत मोह-मुग्ध अज्ञानी व्यक्तिगण घोर अमंगलकारी नरक में गिरते हैं।'
गीता १६।७-१६

तदर्पिताखिलाचार सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥६५॥

तदर्पिताखिलाचार सन् (समस्त कर्म ईश्वर को समर्पण कर) कामक्रोधाभिमानादिक (काम, क्रोध, अभिमान आदि) तस्मिन् एव (इष्ट के ऊपर) करणीयम् (करना होगा) ॥६५

सारे कर्म इष्ट को समर्पण कर काम, क्रोध, अभिमान आदि उनके ऊपर ही करना ॥६५

अन्य सभी साधन पथों मे दिवारात्रि प्रवृत्ति समूहों के साथ संग्राम कर उनका नाश करना पड़ता है। किन्तु भक्ति मार्ग में इस प्रकार के संग्राम की आवश्यकता नहीं होती। भक्त प्रतिक्षण इष्ट की अराधना मे मत्त रहने की चेष्टा करते है। मन प्राण इन्द्रियवृत्तियाँ सभी उनकी सेवा में लिप्त रखने की चेष्टा के फलस्वरूप भोगों की प्रवृत्तियाँ स्वयं शान्त हो जाती हैं। तब भी यदि काम, क्रोध आदि प्रवृत्तियाँ सिर उठाकर भक्त को इष्ट से विमुख करना चाहें तो भक्त उन सबको इष्ट की ओर मोड़ देते हैं। भक्त व्याकुल भाव से ही ईश्वर को पाने की कामना करते हैं। भक्ति विरोधी विषयों के ऊपर उन्हें क्रोध आता है।—'मैं ईश्वर का भक्त हूँ,' इष्ट की भाँति मेरा दूसरा कौन अपना है' अथवा 'उन्होंने मुझपर दया नहीं की, अब और उन्हें नहीं पुकारूँगा,' इस प्रकार का अभिमान, भक्त को इष्ट-चिन्तन में ही लिप्त रखता है। गोस्वामी नरोत्तम दास प्रवृत्तियों की दिशा मोड़ने के लिए इस प्रकार का विधान प्रस्तुत करते हैं—

> काम-क्रोध-लोभ-मोह, मद मात्सर्य दम्भसह,
> स्थाने-स्थाने नियुक्त करिबो।

आनन्दकरि हृदय, रिपु करि पराजय,
अनायसे गोविन्द भजिवो ।।
कृष्णसेवा कामार्पणे, क्रोध भक्तद्वेषी जने,
लोभ साधुसङ्गे हरिकथा ।
मोह इष्टलाभ विने, मद कृष्ण गुणगाने,
नियुक्त करिवो यथा तथा ।।
अन्यथा स्वतन्त्र काम, अनर्थादि जार नाम,
भक्तिपथे सदा देय भङ्ग ।
किवा से करिते पारे, काम-क्रोध साधकेरे,
यदि हय साधुजनार सङ्ग ।।

"भगवान की शरणागत होकर लज्जा, भय इन सब का त्याग करो। मैं यदि हरि का नाम लेकर नाचूं तो लोग मुझे क्या कहेंगे, इन सबका त्याग करो। 'लज्जा, घृणा, भय—तीन थाकते नय।' (लज्जा, घृणा और भय इन तीनों के रहने से कुछ उपलब्ध नहीं होगा।) लज्जा, घृणा, भय, जाति, कुलशील, लोक-निन्दा, सङ्कोच, छिपाने की इच्छा, अभिमान—इन सब पापों का त्याग नहीं करने पर कोई भी ईश्वर लाभ नहीं कर पाता।"

"काम-क्रोधादि षड्-रिपु तो सहज ही नहीं जायेंगे, इन सबको ईश्वर की ओर मोड़ दो। ईश्वर की कामना करो। सच्चिदानन्द के साथ रमण करो। जो लोग ईश्वर की पथ में बाधा उत्पन्न करें, उनके ऊपर क्रोध करो। फिर भक्ति का तमोगुण लाने पर क्रोध चला जायगा। मैं दुर्गा का नाम जपता हूँ, फिर मुझे बन्धन क्या? पाप क्या? इसके बाद भगवान को पाने के लिए लोभ करो। 'मेरा-मेरा' यदि करना हो तो ईश्वर को लेकर करो; जैसे 'मेरे कृष्ण' 'मेरे राम।' उनके रूप पर मुग्ध होओ। यदि अहकार करना हो तो विभीषण की तरह करो।—'मैंने राम को प्रणाम किया है' यह माथा और किसी के सामने नहीं झुकाऊँगा।' यदि मद अर्थात मत्तता करनी हो, अहंकार करना हो,

ता 'मैं ईश्वर का दास हूँ,—मैं उनका बेटा हूँ'—यही अहंकार करो। इस प्रकार छओं रिपुओं को मोड दो। काम मानो वृक्ष का मूल है, कामना मानो डाल पत्ते हैं। सम्पूर्ण मन ईश्वर को नहीं देने पर दर्शन नहीं होता।

'समस्त कर्म-फल ईश्वर को समर्पित करने होंगे। स्वयं कोई फल-कामना नहीं करनी है। तब भक्ति की कामना भक्ति के लिए प्रार्थना कर सकते हो। भक्ति की कामना कामनाओं में नहीं गिनी जाती। भक्ति का तमोगुण लाना। माँ के सामने जोर-जबरदस्ती करो। तुम्हारी जो अपनी माँ है वह तो मानने की माँ नहीं है, वह तो धर्म-माँ नहीं है, उसके आगे जबर्दस्ती नहीं चलेगी, तो किसके आगे चलेगी ?"

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास-नित्यकान्तात्मक वा प्रेम एव कार्यं प्रेम एव कार्यम् इति ॥६६॥

त्रिरूपभङ्गपूर्वक (तामसिक, राजसिक और सात्विक भक्ति के पार जाकर—अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं आर्त भक्त के भावों का भी अतिक्रमण कर) नित्यदास—नित्यकान्तात्मक (सर्वदा दास-भाव या कान्ता भाव से भजनरूपी) प्रेम एव कार्यम् (प्रेम में मग्न होना चाहिए) ॥६६

तामसिक, राजसिक और सात्विक भक्ति के पार जाकर—गुणातीत होकर— सर्वदा दास-भाव या कान्ताभाव का आश्रय लेकर प्रेम में मग्न रहना चाहिए ॥६६

सत्व, रज, तम —इन तीन गुणों के बन्धन में जीव बद्ध हैं। इन तीनों गुणों के बन्धनों को तोडना होगा—नहीं तो पराभक्ति नहीं आयेगी।

आर्त आदि भावों से जो भक्ति होती है वह पराभक्ति की प्राप्ति की सीढी मात्र है। यहाँ अंतिम सीढी की बात हो रही है। इस सीढी पर भी 'मैं' का लेश, थोडा भेद-भाव रहता है। नहीं तो रसास्वादन नहीं होता। किन्तु, परम प्रेम में उसका भी लोप हो जाता है।

तीनों गुणों के बन्धनों का अतिक्रमण कर एवं आर्त आदि भावों का भी अतिक्रमण कर नित्यदास या नित्य कान्ताभाव का आश्रय लेकर प्रेम की

साधना करनी होगी। दास्य एवं मधुर भाव ग्रहण करने से उनके अन्तर्वर्ती सख्य एवं वात्सल्य-भाव भी गृहीत हुए।

"भाव क्या है, जानते हो ? ईश्वर के साथ एक सम्बन्ध स्थापित करना, इसका ही नाम भाव है। एक भाव को दृढ़ रूप से पकड़ कर, ईश्वर को अपना बना लेना होगा, तभी तो उनके ऊपर जोर चलेगा !

"दास भाव से सभी भाव आते हैं--शान्त, सख्य आदि। मालिक यदि नौकर से प्रेम करता है, तो उसको अपने पास बैठाकर कहता है 'मैं जो हूँ, तू भी वही है।'

"शान्त, दास्य सख्य, वात्सल्य या मधुर--इन सब में एक भाव का आश्रय नहीं करने पर ईश्वर को नहीं पाया जा सकता। ऋषियों का शान्त-भाव था उन लोगों को और कुछ भोग करने की इच्छा नहीं होती थी। जैसे स्त्री की पति में निष्ठा होती है। वह समझती है कि मेरा पति कामदेव है। हनुमान का दास्यभाव था। जब राम का काम करते थे तब सिंह के समान करते थे। पत्नी में भी दास-भाव रहता है, इसी से वह स्वामी की प्राणपण से सेवा करती है। माँ में भी कुछ रहता है; यशोदा को भी था। सख्य--बन्धुभाव है। श्रीदाम आदि कृष्ण को कभी जूठा भोजन कराते हैं, कभी उनके कंधे पर चढ़ जाते हैं। कहते हैं, आओ, समीप आकर बैठो। वात्सल्य-भाव--यशोदा का था। पत्नी में भी कुछ-कुछ यह भाव रहता है। वह अपने स्वामी को भरपूर भोजन कराती है। कृष्ण को कब खाने की इच्छा होगी इसका ठिकाना नहीं, इसलिए यशोदा सदा हाथ में मक्खन रखती थी। लड़का यदि भर पेट खाना खा ले तभी माँ आनन्दित होती है। मधुर भाव--जैसे राधा का था। पत्नी में भी मधुर भाव है। शान्त, दास्य सख्य, वात्सल्य-- ये सब मधुर भाव के अन्तर्गत ही है। केवल सिद्ध अवस्था में ही सभी भाव अच्छे लगते हैं। उस अवस्था में कामगन्ध नहीं रहेगी।"

□

नवम अनुवाक

भक्त-महिमा

भक्ता एकान्तिनो मुख्या ॥६७॥

एकान्तिन (ऐकान्तिक) भक्ता (भक्तगण) मुख्या (श्रेष्ठ) ॥ ६७
एकान्त भक्त श्रेष्ठ होते हैं ॥६७

साधना का प्रधान लक्ष्य होना है—देह, इन्द्रिय, प्राण और मन की चेष्टाओं को इष्टाभिमुखी कर दिवारात्रि ईश्वर का भजन करना। साधक जब इस प्रकार तन्मय—एकान्ती होते हैं, अपने हृदय को निचोड़कर समस्त प्रेम इष्ट के चरणों में अर्पित करते हैं, जब उनके हृदय में पराभक्ति का प्रकाश होता है, तब वे श्रेष्ठ भक्त के रूप में गिने जाते हैं।

एकान्ती भक्तगण गुणातीत होते हैं। उन सब के हृदय में ऐहिकता या स्वार्थ चेष्टा का लेशमात्र नहीं रहता। वे सब मुक्ति की कामना भी नहीं करते हैं।

"भक्त का भाव कैसा होता है, जानते हो? 'हे भगवान्, तुम प्रभु हो मैं तुम्हारा दास हूँ' 'तुम माँ हो, मैं तुम्हारी सन्तान हूँ' फिर 'तुम मेरे पिता या माता हो' 'तुम पूर्ण हो मैं तुम्हारा अंश हूँ'।"

"वे तो सभी जीवों में हैं। तब भक्त किसे कहते हैं? जो उनमें (ईश्वर में) रहता है—जिसके मन, प्राण और अन्तरात्मा सब ईश्वर में अर्पित हो गये हैं।

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभि परस्पर लपमाना पावयन्ति कुलानि पृथिवीञ्च ॥६८॥

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभि [प्रेम की अतिशयता में] (वाकरोध, रोमाञ्च और अश्रुपात के साथ) परस्पर लपमाना [भक्तगण] (आपस की

वातचीत में लिप्त रहकर) कुलानि (वंश समूह को) पृथिवीम् च (एवं जन्मभूमि को) पावयन्ति (पवित्र कर देते हैं) ॥६८

भक्तगण प्रेम की अतिशयता में वाणी के अवरोध, रोमाञ्च और अश्रुपात के साथ परस्पर ईश्वर-प्रसंग की वातचीत में मत्त रहकर स्वयं जिन वंशों में जन्मे हैं उन वंशो एवं अपनी जन्मभूमि को पवित्र कर देते हैं ॥६८

अश्रु, पुलक, कण्ठावरोध, ये सब भक्ति की अतिशयता के लक्षण हैं।

ईश्वर के नाम के स्मरण और लीला-कीर्तन से रोमाञ्च होता है, विगलित-धार से अश्रुपात होने लगता है। और इस प्रेम के आनन्द का भक्तगण अकेले-अकेले भोग करना पसन्द नहीं करते—आपस में मिलकर वर्तालाप और कीर्तन करते-करते वे सब उन्मत्त हो जाते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

> मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
> कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ गी० १०।९

"जिन भक्तों के मन-प्राण मुझ में अर्पित हुए हैं वे परस्पर मेरे विषय में वातचीत और विवेचन कर सर्वदा परम संतोष और आनन्द प्राप्त करते हैं।

"भक्त का स्वभाव गंजेरी-जैसा होता है। गंजेरी गंजेरी को देखकर बड़ा आनन्दित होता है। किसी धनी के आने पर वह बात नहीं करता, किन्तु यदि कोई दरिद्र गंजेरी आ जाता है तो आलिंगन करने लगता है। भक्त का स्वभाव कैसा होता है, जानते हो ? मैं कहता हूँ, तुम सुनो; तुम कहो, मैं सुनूँगा। इस प्रकार जब भक्त को भक्त से भेंट होती है, तब वे दोनों धर्मकथा कहते हैं, बड़ा आनन्द प्राप्त करते हैं और हठात् वे अलग होना नहीं चाहते।

भक्तगण केवल आपस में वातचीत कर संतुष्ट रहते हैं, ऐसा नहीं है। संसार के दुःख से उनके प्राण विचलित हो जाते हैं—अभक्तों के हृदय में भक्ति का संचार करने के लिए वे सब सर्वत्र ईश्वर की महिमा का गान करने निकलते हैं।

किसी को पवित्र करेंगे, ऐसा अभिमान उन लोगों में नहीं रहता। विश्वव्यापी इष्ट के प्रकाश का अनुभव कर नित्य दासभाव से वे सब सेवा करते हैं। उन लोगों के निकट जो कोई आता है वह पवित्र हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को कहते हैं,—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

भा० ११।१४।१६

'जो संसार की किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते, जो समस्त चिन्ताओं को त्यागकर शान्त हो गये हैं, जिनका कोई शत्रु नहीं है, जो सबको समान दृष्टि से देखते हैं, इस प्रकार के भक्त की चरण-धूलि से पवित्र होने के लिए मैं उनके पीछे-पीछे घूमता हूँ।'

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि
सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥६९॥

[भक्तगण] तीर्थानि (तीर्थों को) तीर्थीकुर्वन्ति (पवित्र करते हैं, तीर्थ के नाम को सार्थकता प्रदान करते हैं) कर्माणि (कर्मों को) सुकर्मी कुर्वन्ति (सुकर्म में परिणत करते हैं)। शास्त्राणि (शास्त्रों को) सच्छास्त्रीकुर्वन्ति (सत्शास्त्र के रूप में परिणत करते हैं ॥६९॥

भक्तों के संस्पर्श से तीर्थसमूह तीर्थ की मर्यादा प्राप्त करते हैं, उनके द्वारा आचरित कर्म सुकर्म के रूप में गृहीत होते हैं तथा वे जिन शास्त्रों को मानकर चलते हैं, वे सब सत्शास्त्रों के रूप में परिणत होते हैं ॥६९

भक्तों के संस्पर्श से तीर्थ का माहात्म्य है। वे लोग वहाँ साधना और वास करते हैं जिससे तीर्थ पावनीशक्ति प्राप्त करते हैं।

साधुभक्तगण जिन कर्मों का अनुष्ठान करते हैं संसार में वे ही सुकर्म के रूप में परिगृहीत होते हैं,

साधकों के अनुभव के ऊपर शास्त्र की प्रतिष्ठा है। अनेक ग्रंथ रचे जाते हैं; किन्तु धर्मविषयक होने पर भी सभी ग्रंथ शास्त्र की मर्यादा नहीं प्राप्त करते। जिन सब ग्रन्थों को वे लोग प्रमाण के रूप में ग्रहण करते हैं अथवा जो वाणी उन लोगों के मुख से निःसृत होती है, केवल वे सब ही शास्त्र के रूप में स्वीकृत होते है।

"जहाँ अनेक लोग अनेक दिनों तक, ईश्वर का दर्शन करने के लिए जप, तप, ध्यान, धारणा, प्रार्थना, उपासना करते हैं, वहाँ ईश्वर का प्रकाश निश्चय ही है—ऐसा समझना। उन लोगों की भक्ति से वहाँ ईश्वरीय भाव घनीभूत हो गया है; इसी से वहाँ सहज रूप मे ही ईश्वरीय भाव का उद्दीपन और ईश्वर का दर्शन होता है।"

"युग-युगान्तर से कितने ही साधु भक्त सिद्ध पुरुषगण इन सब तीर्थों में ईश्वर-दर्शन के लिए आये हैं, अन्य सारी वासनाओं को छोड़कर ईश्वर को प्राणों के आवेग से पुकारा है, इसीलिए ईश्वर के सभी जगहों पर समान भाव से रहने पर भी इन सब स्थानों मे उनका विशेष प्रकाश है।"

"जिसके प्राणों में भक्ति-भाव है, उसका वह भाव तीर्थ में उद्दीपित होकर और भी बढ़ जाता है। जिस स्थान पर ईश्वर की कथा होती है वहाँ उनका आविर्भाव होता है, और सारे तीर्थ वहाँ उपस्थित हो जाते है।"

भगीरथ द्वारा गंगादेवी को पृथ्वी पर अवतरित होने के लिए अनुरोध करने पर देवी ने आपत्ति प्रकट करते हुए कहा, 'मैं पृथ्वी पर अवतरित होना नहीं चाहती। धरती पर मेरे अवतरित होने से मनुष्य मेरे जल में अपने पाप धोया करेंगे। फिर मैं वह पाप कहाँ धोकर निर्मल होऊँगी! उत्तर में भगीरथ ने कहा—

> साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
> हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥
> भा० ९/९/६

'जिन लोगों' ने इहलोक, परलोक धनसम्पदा और स्त्री-पुत्रादि की कामना का त्याग किया है, जिन सबकी इन्द्रियाँ और मनोवृत्तियाँ शान्त

हो गयी है जो ब्रह्मनिष्ठ हैं एवं संसार की पवित्रता के सम्पादन में रत हैं, जिन सबके हृदय में सर्वपापनाशन हरि सर्वदा विराजमान हैं वे सब साधु व्यक्ति आपके जल में स्नान कर आपके पाप को नष्ट कर देंगे।'

तीर्थयात्रा से लौटे हुए विदुर का महाराज युधिष्ठिर कहते हैं,—

> भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूता स्वयं विभो।
> तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥
>
> भा० १/१३/१०

'असत् लोगों के सान्निध्य में तीर्थ मलिन हो जाते हैं। श्रीहरि को नित्य हृदय में धारण करने वाले आप लोगों की भांति भगवद्भक्तगण तीर्थों में जाकर उन सब तीर्थों को पुनः तीर्थत्व प्रदान करते हैं।'

भक्तों में यह सामर्थ्य कहाँ से आती है ?

तन्मयाः ॥७०॥

[चूँकि वे सब] तन्मयाः (तन्मय हैं), [इसीलिए उन लोगों के सम्पर्श में आकर तीर्थ, कर्म और शास्त्र समूह अपनी अपनी मर्यादा प्राप्त करते हैं] ॥७०

चूंकि भक्तगण सर्वदा भगवद्भाव में विभोर होकर रहते है, इसलिए उनलोगों के सम्पर्श में तीर्थ, कर्म और शास्त्रसमूह अपनी अपनी-मर्यादा प्राप्त करते हैं ॥७०

वे उत्तम भक्तगण भगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते। वे इष्टमय हो जाते हैं। वे सर्वदा इष्ट को हृदय में धारण किये रहते हैं। इसीसे वे सब जहाँ जाते हैं, जहाँ वास करते हैं, उन सब स्थानों में भगवान की सत्ता का विशेष प्रकाश होता है, उन लोगों के आचरण सदाचार के रूप में परिणत होते हैं—उनके वचन ईश्वर के वचन के रूप में संसार को पवित्र करने की शक्ति धारण कर लेते हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥७१॥

[भक्तों के आविर्भाव से] पितरः (पतृ पुरुषगण—पितरगण) मोदन्ते (आनन्दित होते हैं) देवताः (देवगण) नृत्यन्ति (नृत्य करते हैं) च (एवं) इयं भूः (यह पृथिवी) सनाथा (सनाथा) भवति (होती है) ॥७१

उत्तम भक्तो के आविर्भाव से स्वर्ग मर्त्य और पितृलोक में आनन्द का रेला पड़ने लगता है। किसी के वंश में भक्त का आविर्भाव होने से जीवित पितृगण तो आनदिन्त होते ही हैं, परलोक सिधारे हुए पितरगण भी आनन्दित होते हैं। जन्म धारण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर देवऋण, पितृऋण आदि रहते हैं—इन सभी ऋणों से मुक्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को यथाविहित कर्मों का अनुष्ठान करना होता है। किन्तु, प्रकृत भक्त समस्त ऋणों, सारे कर्मानुष्ठानों से मुक्त हो जाते हैं।

केवल प्रकृत भक्त ही जगत् का यथार्थ मंगल-विधान कर पाते हैं। भक्त के आविर्भाव के साथ ही उन पर कृपा करने के लिए संसार में भगवान् का विशेष आविर्भाव होता है। इसी से कहा गया है कि भक्त के आविर्भाव से पृथिवी सनाथा होती है।

ईश्वर के परितृप्त होने पर अन्य देवगण भी तृप्त होते हैं।

नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादि-भेदः ॥७२॥

तेषु (भक्तों के बीच) जाति-विद्या-रूप-कुल-धन क्रियादि-भेदः (जाति विद्या रूप कुल धन या कर्म के लिए भेद) नास्ति (नहीं है) ॥७२

भक्तों में जाति-विद्या-रूप-कुल-धन या किसी कार्य के आधार पर भेद भाव नहीं होता।

भक्तों की आपस मे कोई भेदबुद्धि नहीं रहती—प्रेमास्पद को आश्रय बनाकर वे सब आपस में एक दूसरे के अपने हो जाते हैं। उन सबके चिन्तन और प्रयास सर्वदा एक लक्ष्य में नियंत्रित रहते हैं। भेद-भाव का

उन लोगों को अवसर कहाँ ? भेद-भाव आने पर तो वे सब इष्ट को भूलकर तुच्छ विषयों में बद्ध हो जायेंगे।

"भक्त की जाति नहीं होती। भक्त की कोटि अलग होती है। उन लोगों में जाति के विचार की कोई आवश्यकता नहीं होती। भक्ति होने पर ही देह मन आत्मा सब शुद्ध हो जाते हैं। ईश्वर के नाम लेने से ही मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। अछूत जाति का व्यक्ति भक्ति होने पर शुद्ध और पवित्र होता है। भक्ति नहीं रहने पर ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है तथा भक्ति रहने पर चाण्डाल चाण्डाल नहीं है। भक्त होने पर चाण्डाल का अन्न भी खाया जाता है।" क्यों भेद नहीं होता है ?

यतस्तदीया ॥७३॥

यत (क्योंकि) [भक्तगण] तदीया (ईश्वर के स्वजन होते हैं) ॥७३॥

चूंकि भक्तगण भगवान् के स्वजन होते हैं, इसलिए उनलोगों में किसी प्रकार का भेद नहीं होता ॥७३

ऐहिक भेद भक्तों में कैसे रहेगा ? समस्त ऐहिक भावनाओं को त्यागकर तो एकान्तभाव से उनलोगों ने इष्ट का आश्रय ग्रहण किया है। सब कोई तो उनके अपने लोग हैं। संसार की सभी वस्तुओं एवं व्यक्तियों के ऊपर भक्तों की समदृष्टि रहती है—क्योंकि, संसार में सभी वस्तुएं इष्ट की हैं—ऐसा ही वे समझते हैं।

□

दशम अनुवाक

भक्ति के साधन

वादो नावलम्ब्यः ॥७४॥

वादः (तर्क वितर्कों का) न अवलम्ब्यः (अवलम्बन नहीं करना चाहिए) ॥७४

तर्क के द्वारा तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। इष्ट की प्राप्ति के लिए श्रद्धा ही मुख्य सम्बल है। तर्क और विचारों के द्वारा तत्त्व का निरूपण और प्रतिष्ठा नहीं होती। तर्क के द्वारा मन की चंचलता बढ़ती है। इसी से भक्ति-पथ के पथिक गुरु और शास्त्र के द्वारा अपने भाव के अनुकूल आदर्श से अवगत होकर श्रद्धापूर्वक साधना करेंगे।

साधक के लिए यही बात है। जिन्होंने तत्त्व की प्राप्ति की है, उनके लिए भी तर्क-वितर्क का कोई मूल्य नहीं है। ईश्वर का उन्होंने दर्शन किया है— युक्ति के द्वारा वे और नया क्या जानेंगे ? तर्क के द्वारा किसी को भी पराजित कर प्रतिष्ठा प्राप्त करने की वासना भी उनके मन में नहीं जगती।

तत्त्व प्राप्ति के पूर्व अपनी साधना के अनुकूल विचार और मनन आदि की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के विचार का निषेध नहीं किया गया है।

श्रुति कहती है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ उपनिषद् १/२/९) तर्क के द्वारा आत्मविषयक बुद्धि नहीं पायी जा सकती है।

"जो ज्ञानाभिमानी हैं, वे ही शास्त्र, मीमांसा, तर्क और युक्ति को लेकर व्यस्त रहते हैं। एक बार, यदि चैतन्य प्राप्त हो जाय, यदि कोई एक बार भी ईश्वर को जान ले तो उन सब व्यर्थ के विषयों को जानने की भी इच्छा नहीं होती। ग्रंथ, शास्त्र—ये सब केवल ईश्वर के समीप

जाने का मार्ग बता देते है। मार्ग, उपाय जान लेने के बाद पुन उन सबकी आवश्यकता नही होती। बैठे-बैठे केवल शास्त्रो की बातो पर विचार करने से नही होगा। पाण्डित्य के द्वारा ईश्वर को नही पाया जाता।"

"व्यर्थ तर्क-विचार करने से तत्त्व-प्राप्ति नही होती। व्यर्थ के तर्क-विचार नही करना। किन्तु सत्-असत् का विचार करना—क्या नित्य है, क्या अनित्य (इस पर विचार करना।)।"

बाहुल्यावकाशत्वाद् अनियतत्वात् च ॥७५॥

[तर्क-वितर्क मे] बाहुल्यावकाशत्वात् (मत-बाहुल्य की सभावना है,) च (एव) अनियत्वात् (तर्क के द्वारा प्रतिष्ठित कोई मत समस्त सन्देहों से परे नहीं हो पाता) [अत तर्क नहीं करना] ॥७५

तर्क-वितर्क के फलस्वरूप विभिन्न मतो मे विरोध की सभावना है एव तर्क के द्वारा किसी मत का असन्दिग्ध भाव से प्रतिपादन नही किया जा सकता, अत तर्क-वितर्क में नही पडना ॥७५

युक्तियों के द्वारा के द्वारा तत्त्व का निर्णय करना सम्भव नही है। तर्क का क्या अन्त है? बात मे बात बढती है। अन्त मे वास्तविक विचारणीय वस्तु को भूल अवान्तर विषय को लेकर वाद-विवाद चलता है। वस्तु की प्राप्ति अन्त करण की अनुभूति-सापेक्ष है। श्रुति कहती है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्तिरीय उपनिषद् २/४/१)। 'ईश्वर को नहीं पाकर मन वाणी के साथ लौट आता है।'

"बात यही है—किसी प्रकार जिससे ईश्वर के प्रति भक्ति हो, प्रीति हो। (ऐसा करना चाहिए)। बहुत जानने से क्या लाभ है? किसी एक पथ पर चलते-चलते यदि ईश्वर के प्रति प्रेम हो सके तो इतना होने पर ही हो गया। इसके बाद यदि आवश्यकता हो, तो वे ही सब समझा देंगे। आम खाने आये हो, आम खाओ। कितनी डाल हैं, कितने पत्ते हैं, इन सब का हिसाब कर क्या होगा? ईश्वर का साक्षात्कार नही करने पर उनके स्वरूप को

नहीं समझा सकता। यदि ईश्वर का साक्षात् दर्शन हो, तब ठीक-ठीक कहा जा सकता है। ईश्वर के विषय मे जो जितना समझता है, वह सोचता है कि ईश्वर ऐसे ही हैं, और कुछ नही।"

"तुम कड़कड़ाना छोड़ो। जब तक घी कच्चा रहता है, तब तक ही वह कड़कड़ाता है। खाली गरुआ में जल भरने के समय भक्-भक् की आवाज होती है। किन्तु भर जाने पर फिर आवाज नहीं होती। विचार-बुद्धि कब तक? जब तक ईश्वर का आनन्द नही पाया जाता। मधुपान का आनन्द प्राप्त करने पर मधुमक्खी और भन्-भन् नही करती। ग्रन्थ पढ़कर ढेरों तर्क-युक्ति करने में समर्थ होने से कुछ नहीं होगा। 'भाँग' 'भाँग' मुँह से बोलने से भी नही होगा, कुल्ला करने से भी कुछ नहीं होगा। नशा करने के लिए 'भंग' पीनी पड़ेगी। इन सब बातों की धारणा करनी होगी। धारणा करने पर व्याकुल होकर निर्जन स्थान में अकेले छिपकर ईश्वर को पुकारना होगा।"

"एक बगीचे में दो व्यक्ति घूमने गये थे। उन लोगों में जिसे विशेष विषय-बुद्धि थी, वह बगीचे में प्रवेश करते ही आम के कितने पेड़ है, किस पेड़ में कितने आम है, बगीचे की कितनी कीमत हो सकती हैं, इन सब का विचार करने लगा। दूसरा व्यक्ति बगीचे के मालिक के साथ बातें करते हुए आम तोड़ने और खाने लगा। कहो कौन बुद्धिमान् है? आम खाओ, पेट भरेगा। केवल पत्तों का हिसाब-किताब कर क्या लाभ? ईश्वर से प्रेम-भक्ति होने के लिए ही मनुष्य का जन्म हुआ है। जो ज्ञानाभिमानी है वही शास्त्र मीमांसा तर्क युक्ति लेकर व्यस्त है। यदि एकबार चैतन्य हो जाय, यदि ईश्वर को कोई एकबार जान पाये, तो वह सब जानने की उसे इच्छा होतीभी नहीं।"

बिल्कुल विचार नहीं करोगे, ऐसा नही कहा गया हैं।

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तद्वर्धक-कर्माण्यपि करणीयानि ॥७६॥

भक्तिशास्त्राणि (भक्तिशास्त्रों का) मननीयानि (मनन करना कर्त्तव्य है),

तद्वर्धक-कर्माणि (जिन कर्मों के द्वारा भक्ति में वृद्धि हो, वे सारे कर्म) करणीयानि (करने चाहिए) ॥७६

भक्तिशास्त्रों का विचार एवं भक्ति-वर्धक कर्मों को करते रहना चाहिए।

व्यर्थ तर्क करना निषिद्ध है, किन्तु शास्त्र के सिद्धान्तों पर विचार करना भक्ति-लाभ के लिए सहायक है। स्वाध्याय साधना का एक विशेष प्रयोजनीय अङ्ग है। इसी से, शास्त्र के सिद्धान्तों का अपने मन में विचार एवं दूसरों के साथ विचार-विमर्श करने का श्रीनारद उपदेश देते हैं। भक्ति में वृद्धि के लिए साधुओं की संगति, शास्त्र पाठ, सत्-चर्चा, पूजा आदि कर्म अवश्य करणीय हैं। भक्तिवर्धक कर्म कहने से नवधा भक्ति के विविध साधन एवं तीर्थयात्रा आदि समझना चाहिए।

श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं, "अरे, मैंने कितना सुना है।" जब अकेले रहता तब श्रीमद्भागवत या चैतन्य चरितामृत ये सब पढ़ता।"

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् ॥

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्यांचोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥

भा० ११/३/२६-३१

'भक्त भगवत्-प्राप्ति के उपायों के निर्देशक शास्त्रों के प्रति श्रद्धावान् होंगे, किन्तु अन्य शास्त्रों की निन्दा नहीं करेंगे। वे प्राणायाम के द्वारा मन को, मौन का अवलम्बन कर वाणी को तथा वासनात्याग द्वारा कर्मचेष्टा को संयत करेंगे। वे सत्यवादी होंगे एवं कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को अपने वश में रखेंगे। भगवान् के विचित्र जन्म, कर्म, लीला और गुणों की कथा का वे श्रवण, कीर्तन और ध्यान करेंगे। भक्त के समस्त शारीरिक कर्म इष्ट के लिए ही अनुष्ठित होंगे। वे समस्त यज्ञ, दान, जप, तप, सदाचार-पालन और स्त्री, पुत्र, गृह, प्राण, जो कुछ भी स्वयं को प्रिय हों उन सब को भगवान के चरणों में निवेदन करेंगे। इस प्रकार से साधुपुरुषों के साथ भक्त सौहार्द्र्य स्थापित करेंगे, स्थावर-जंगम सभी प्राणियों, विशेषकर मनुष्य, उससे भी बढ़कर धर्मनिष्ठ भक्त के प्रति सेवापरायण होंगे। वे भक्तों के साथ मिलकर श्री भगवान् का गुणानुकीर्तन करेंगे एवं विषयों से विरत होकर परम शान्ति और आनन्द की प्राप्ति करेंगे। पापनाशन श्री हरि के गुणों की कथा का स्मरणकर और परस्पर स्मरण कराकर वे तृप्त होंगे। इस प्रकार से साधनभक्ति का अनुशीलन करते-करते भक्त के हृदय में प्रेमभक्ति का उदय होगा, उनकी देह के रोम-रोम में पुलक उत्पन्न होगी।'

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥७७॥

सुख-दुःख-इच्छा-लाभ-आदि-त्यक्ते (सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदि का त्याग हो जाने के फलस्वरूप) **काले प्रतीक्षमाने** (भगवद्भजन का समय जब पाया जाय तब) **क्षणार्धम् अपि** (अति अल्प समय भी) **व्यर्थं न नेयम्** (व्यर्थ नहीं जाने देना।)।।७७

साधारण संसारी जीव का समय सुख-दुःख, हास-रुदन, लाभ-हानि के चिंतन में किस प्रकार व्यतीत हो जाता है इसकी कोई गणना नहीं है। किन्तु ईश्वर की कृपा से हृदय में भक्ति का उदय होने के फलस्वरूप भक्त जब सुख-दुःख से और विचलित नहीं होते, विषय-वासना जब और उनके हृदय में नहीं

जगतो, तब तो उन्हें समय का किंचित् अभाव नही रहता। उस समय का वे किस प्रकार सदुपयोग करेंगे? वे नित्य स्मरण-मनन मे लगे रहेंगे, आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवायेंगे। पराभक्ति की उपलब्धि नही होने तक साधन का विस्मरण करते ही पतन की आशंका हो जाती है। फिर पराभक्ति का लाभ होने के बाद नित्य प्रतिपल इष्ट को लेकर ही मतवाले बने रहते हैं।

इस सूत्र का दूसरे प्रकार का अर्थ भी हो सकता है।

सुयोग-सुविधा कब आयेंगे, कहा नहीं जा सकता। समस्त बाधा-विघ्नों के चले जाने तथा सभी ओर अनुकूल समय आने पर भजन करूँगा, ऐसा सोचकर शुभ घडी की प्रतीक्षा करने पर शुभ घडी कभी नहीं आयगी। गंगा की सभी लहरों के रुक जाने पर गंगा-स्नान करूँगा—ऐसा सोचने पर कभी गंगा-स्नान नहीं होता।

भजन मे सुख नहीं मिले, यदि दुःख भी मिले, तब भी भजन करते जाना होगा। आज भजन की इच्छा नहीं है, या भजन करने मे ही क्या लाभ,—इस प्रकार के मनोभाव मे अभिभूत होने पर भजन किसी दिन नही होगा। बल्कि मन तमोगुण से अभिभूत होगा—नीचे चला जायगा। पीतल के लोटे को नित्य नहीं माँजने पर काई पड जायगी। ईश्वर को पाने के लिए सभी अवस्थाओं मे मन को ईश्वर के पाद-पद्मों में लगाकर रखना होगा—आधा क्षण भी व्यर्थ जाने देने से नहीं चलेगा। जिस क्षण मे ईश्वर को भूलोगे उस क्षण के लिए ही विषय आकर मन पर अधिकार कर लेगा—और उन्हें बहुत क्षणों तक विस्मरण करने के फलस्वरूप मन के ऊपर एक चिह्न अंकित कर देगा।

> त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
> न चलति भगवत्पदारविन्दात् लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
>
> भा० ११।२।५३

'उत्तम भक्त का हृदय प्रतिक्षण श्री भगवान् के पादपद्म के चिन्तन में मग्न रहता है। संसार के समस्त भोग, सारे सुख उनको अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होते

हैं। इसी कारण से तीनों लोकों के राज्य की प्राप्ति की संभावना आने पर भी वे आधे पल के लिए भी श्रीहरि के चरण-चिन्तन से विरत नहीं होते।'

"सर्वदा ही ईश्वर का नामगुणगान कीर्तन और प्रार्थना करनी होगी। जो लोग भगवान के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते वे प्रत्येक निःश्वास के साथ ईश्वर का नाम लेते हैं। कोई मन ही मन सर्वदा 'राम, ॐ राम' जपता है। किसी किसी की सर्वदा जिह्वा हिलती है। सर्वदा ही स्मरण-मनन होते रहना उचित है।"

अहिंसा-सत्य-शौच-दयास्तिक्यादि-चारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥७८॥

अहिंसा-सत्य-शौच-दयास्तिक्यादि (अहिंसा, सत्य, शुचिता, दया, आस्तिकता आदि) चारित्र्याणि (चरित्रगत गुणों के समूह) परिपालनीयानि (परिपालन करते चलना) ॥७८

अहिंसा सत्य शुचिता दया आस्तिकता आदि चरित्रगत गुणों का पालन करते रहना चाहिए ॥७८

शरीर की शुद्धि और मन की शुद्धि नहीं होने पर हृदय में भगवान का आसन प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। चरित्र को छोड़कर भक्ति नहीं रहती, भक्ति का होना भी संभव नहीं होता। अहिंसा सत्य आदि का आचरण केवल भक्त के लिए ही विहित नहीं हैं। ये सब महाव्रत सभी देशों में, सभी कालों में और सभी मनुष्यों के लिए अवश्य पालन करने के योग्य हैं। 'आदि' कहने से और भी अन्य सारे गुण समझने होंगे।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में इन सारे गुणों को 'ज्ञान' कहा गया है। फिर इन सब को दैवीसम्पद्‌ की आख्या भी प्रदान की गयी है। गीता के त्रयोदश एवं षोडश अध्याय द्रष्टव्य हैं।

अहिंसा का मन-प्राणों से आचरण करना होगा। अन्य प्राणी को किसी प्रकार का दैहिक क्लेश प्रदान करने से विरत रहने से ही अहिंसा का पालन नहीं हुआ। यह केवल एक निषेधमूलक वृत्ति नहीं है। दया इसके साथ ही

अङ्गाङ्गीभाव से जुडी हुई है। सभी प्राणियों के प्रति मैत्री और करुणा का भाव जब हृदय में सदैव जाग्रत रहेगा, केवल तभी वहाँ अहिंसा की प्रतिष्ठा होगी। दया और अहिंसा मन की एक ही प्रीतिवृत्ति के विभिन्न प्रकाश है।

शास्त्र मे दया का लक्षण इस प्रकार वर्णित हुआ है। 'अपने हित एव अपने कल्याण के लिए मनुष्य मे जो स्वभाविक चेष्टा देखी जाती है, उसी प्रकार की चेष्टा सैदव सभी प्राणियो के कल्याण के लिए आनन्दपूर्वक होने पर उसे दया कहा जाता है।' 'शत्रु मित्र उदासीन सब के साथ सर्वदा आत्मवत् व्यवहार को दया कहा जाता है।'

भक्त सर्वत्र इष्ट को विभिन्न भाव मे प्रकाशित देखते हैं, इसी से उनके दया के कार्यों मे श्रेष्ठता का अभिमान व्यक्त नही होता।

'सत्य' कहने से केवल सत्य बात बोलना ही पर्याप्त नही हुआ, सत्य चिन्तन भी करना होगा। भागवत् मे सत्य की सज्ञा दी गयी है—'सत्यञ्च समदर्शनम्'। ब्रह्म का एक नाम है 'सम'। ब्रह्मदर्शन—ब्रह्म के विषय मे विवेचन ही वास्तविक सत्यानुशीलन है।

पानी से मैल को धोकर साफ कर देने को ही साधारणत हमलोग शौच की आख्या देते हैं। किन्तु बाहर की मलिनता को दूर कर पाने से ही पवित्र नही हुआ जाता। मन की मलिनता को दूर करना ही यथार्थ शुचिता है। अहकार से मन मलिन हो जाता है। अनासक्ति से मन की मलिनता दूर होती है—मन पवित्र होता है। शास्त्रकारो ने शौच की विभिन्न सज्ञाएँ दी हैं। कोई कहते हैं, 'निषिद्ध वस्तु के भोजन का परित्याग, सत्सग मे वास एव स्वधर्मपालन—शौच के ये तीन लक्षण हैं।' दूसरे व्यक्ति कहते हैं, 'सत्यभाषण, मन की शुचिता, इन्द्रियसयम, सभी जीवो के प्रति दया—ये चार प्रकार मानसिक शौच के लक्षण हैं, जल से धोकर शुद्ध करने को कहा जाता है बाह्य शौच।' भागवत् कहते हैं, 'कर्मस्वसङ्गम शौचम्—कर्म मे अनासक्ति यथार्थ शौच है।'

भक्त की दृष्टि मे सर्वदा भगवान का चिन्तन, भगवान की सेवा—पवित्रता के साधन का, देह मन को पवित्र करने का, एकमात्र उपाय है।

आस्तिक्य कहने से ईश्वर में विश्वास एवं गुरु और शास्त्रवाक्य मे श्रद्धा समझा जाता है।

"सत्यकथन कलियुग की तपस्या है। जिसकी सत्य में निष्ठा है वह सत्यस्वरूप भगवान को पाता है। सत्य को दृढ़ता पूर्वक पकड़े रहने से ही भगवान की प्राप्ति होती है। सत्य में दृढ़ता नही रहने पर धीरे-धीरे सब नष्ट हो जाता है। अपनी इस अवस्था के बाद हाथ में फूल लेकर माँ (काली) को मैंने कहा था, माँ, यह लो अपना ज्ञान यह लो अपना अज्ञान, मुझे शुद्धा भक्ति दो माँ; यह लो अपनी पवित्रता, यह लो अपनी अपवित्रता, मुझे शुद्धा भक्ति दो माँ; यह लो अपना अच्छा, यह लो अपना बुरा, मुझे शुद्धा भक्ति दो माँ; यह लो अपना पुण्य, यह लो अपना पाप, मुझे शुद्धा भक्ति दो माँ! जब यह सब कहा था तब मैं यह बात कह नहीं पाया—माँ! यह लो अपना सत्य, यह लो अपना असत्य। सब कुछ माँ को दे पाया, सत्य माँ को दे नहीं पाया।"

"कायमनवाक्य के द्वारा बारह वर्षों तक सत्य पालन करने पर मनुष्य सत्य सङ्कल्प होता है। जो लोग विषयकर्म करते हैं, या ऑफिस के काम या व्यसाय करते हैं—उन लोगों को भी सत्य में रहना उचित है।"

"लोगों को खिलाना एक प्रकार से ईश्वर की सेवा करना ही है। सभी जीवों के भीतर वे अग्निरूप में रहते हैं। लोगों को खिलाना उनको आहुति देना है।"

"जिन लोगों को रुपये हैं, वे माँ के दीवान हैं, उन लोगों के लिए दान करना उचित है। साधु भक्त दरिद्र को सामने देखने पर कुछ देना चाहिए।"

"दया और माया ये दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। पिता माता भाई बहन स्त्री पुत्र भतीजा भांजा भतीजी इन सब आत्मीयों के ऊपर जो आकर्षण है उसे कहते हैं माया। 'मेरी वस्तु मेरी वस्तु' कहकर उन सब वस्तुओं को प्रेम करने का नाम है माया। और सबको प्रेम करने, सभी देशों के लोगों को प्रेम करने, सभी धर्मों के लोगों को प्रेम करने का नाम है दया। माया से मनुष्य बद्ध हो जाता है, भगवान् से विमुख हो जाता है। दया से ईश्वर

की प्राप्ति होती है। किसी के भीतर यदि दया देखो तो उसे ईश्वर की दया समझना। दया में सभी जीवों की सेवा होती है। दया, धर्म और भक्ति सत्वगुण से होती है। दया से चित्तशुद्धि होती है। क्रमश बन्धनमुक्ति होती है।"

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवान् एव भजनीय ।।७९।।

सर्वदा (सभी समय) सर्वभावेन (सभी प्रकारों से) निश्चिन्तितै (चिन्ता-रहित होकर) भगवान एव भजनीय (एकमात्र भगवान् का ही भजन करना कर्तव्य है) ।।७९।।

श्रीनारद ने पहले ही कहा है कि एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए। अभी कहते हैं कि सभी समय हर प्रकार से ईश्वर का ही भजन करना। भजन में कालाकाल का विचार नहीं है। ३७ वें सूत्र में श्रीनारद ने कहा है कि संसार में रहकर या दूसरे लोगों के साथ रहकर भी भजन हो सकता है। थोड़ा आगे ७६ वें सूत्र में उन्होंने कहा है, भक्तिशास्त्र का विचार और भक्तिवर्धक कार्य करना चाहिए। आलोच्य सूत्र के द्वारा वे पूर्वोक्त उपदेशों का उपसंहार कर रहे हैं।

मुख्या भक्तिलाभ होने पर बाह्य अनुष्ठानों की प्रयोजनीयता समाप्त हो जाती है। उत्तम भक्त के द्वारा बाह्य-पूजादि का अनुष्ठान करने पर भी उनकी पूजा एवं नये भक्त की पूजा में बहुत अन्तर है। उत्तम भक्त के निकट इष्ट सर्वत्र और सर्वदा प्रकाशित रहते हैं।

सर्वदा सर्वतोभावेन भजन तभी होगा जब भीतर और बाहर, ऐहिक और पारलौकिक में कोई भेद नहीं रहेगा। जब कोई बाह्य चिन्तन मन को चचल नहीं करेगा तब निश्चिन्त भाव से इष्ट का चिन्तन करना सम्भव होगा।

सर्वदा सर्वतोभावेन भजन करने का क्या फल होता है?

स कीर्त्यमान शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ।।८०।।

स (ईश्वर) कीर्त्यमान (जब उनका नाम-कीर्तन होता है तब) शीघ्रम

एव (निश्चय ही अति शीघ्र) आविर्भवति (आविर्भूत होते हैं) च (एवं) भक्तान् (भक्तों को) अनुभावयति (अपने प्रकाश का अनुभव कराते हैं) ॥८०॥

जब ईश्वर का नाम-कीर्तन होता है तब श्रीभगवान् वहाँ आविर्भूत होते हैं एवं भक्तों को अपने प्रकाश या सान्निध्य का अनुभव कराते हैं ॥८०

निश्चिन्त भाव से भजन का यही फल है—केवल हृदय में ही ईश्वर का अनुभव नहीं किया जाता, बल्कि सर्वत्र उनके प्रकाश का दर्शन होता है। अपने भीतर और बाहर इष्ट का अनुभव करना ही जीवन की सार्थकता है। पूरे प्राणों से पुकारने पर वे शीघ्र भक्त के समीप प्रकट होते हैं तथा अपने प्रेम का आस्वादन कराकर भक्त को धन्य करते हैं। भक्तों के द्वारा आपस में मिलकर उनके नाम का संकीर्तन तथा गुणगान करने पर वे उस स्थल पर स्वयं को विशेष भाव से प्रकाशित करते हैं, तथा उनके आविर्भाव का अनुभव और दर्शन कर भक्तगण कृतार्थ होते हैं।

"मछली कितनी भी दूर क्यों न रहे, अच्छा अच्छा चारा फेंकने मात्र से ही जैसे वह दौड़ी चली आती है, उसी भाँति भगवान् विश्वासी भक्त के हृदय में शीघ्र आकर प्रकट होते हैं।"

> भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
> प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥
> भा०/११/२/४२

'भोजन के फलस्वरूप जिस प्रकार प्रत्येक ग्रास के साथ भोजन करने वाले की तुष्टि, पुष्टि एवं क्षुधानिवृत्ति एक ही समय में होती रहती है, उसी प्रकार भजनशील व्यक्ति को भजन के प्रत्येक क्षण में भगवान् के प्रति प्रेमा भक्ति, प्रेमास्पद प्रभु के स्वरूप की अनुभूति एव समस्त विषयों के प्रति वैराग्य एक ही साथ उत्पन्न होते हैं।'

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥८१॥

त्रिसत्यस्य (तीनों कालों में जो सत्य हैं उनमें) भक्तिः एव (निश्चय ही भक्ति) गरीयसी (श्रेष्ठ है), भक्तिः एव (निश्चय ही भक्ति) गरीयसी (श्रेष्ठ है) ॥८१

तीनो कालों मे जो सत्य हैं उनमे भक्ति ही निःसन्देह रूप से श्रेष्ठ है ॥८१

भगवान ही भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनो कालो मे ही सत्य स्वरूप मे विराजमान है, और पराभक्ति मे उनका प्रकाश होता है। कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीनो साधना पथो मे भक्ति ही श्रेष्ठ पथ है। जीव की प्राणशक्ति का प्रकाश उसके कर्म मे पाया जाता है और ज्ञान के विकास मे उसके मस्तिष्क की क्रिया देखी जाती है और हृदयवृत्ति के अनुशीलन के द्वारा उसके प्रेम का प्रकाश होता है। इन तीनो वृत्तियों मे प्रेम के पूर्ण प्रकाश के द्वारा जीवन सार्थक होता है।

गुणमाहात्म्यासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-कान्तासक्ति-वात्सल्यासक्ति-आत्म-निवेदनासक्ति-तन्मयासक्ति-परमविरहासक्तिरूपा एकधा अपि एकादशधा भवति ॥८२॥

[भक्ति] एकधा अपि (एक प्रकार की होने पर भी) गुणमाहात्म्यासक्ति [प्रभृति] एकादशा भवति (एकादश भाव से प्रकाशित होती है ॥८२॥

भक्ति एक एव अभिन्न होने पर भी गुणमाहात्म्यासक्ति आदि भाव भेद से ग्यारह रूपो मे प्रकाशित होती है ॥८२

भक्ति के स्वरूपत एक ही होने पर भी भक्तों के जीवन मे वह ग्यारह प्रकारो की आसक्ति के रूप मे प्रकाशित होती है। श्रीमद्‌भागवत मे भक्ति के नौ प्रकारो के प्रकाश की बात कही गयी है। गौडीय वैष्णव आचार्यों ने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—भक्ति के इन प्रधान पाँच प्रकारों का भेद ग्रहण किया है। देवर्षि नारद ने और भी सूक्ष्म भाव मे विचारकर ग्यारह प्रकार के भेद दिखलाये हैं।

इन ग्यारह प्रकार के भेदो मे भक्ति के सम्पूर्ण भावो की इति नहीं की जा सकती। मनुष्य मे जितने प्रकारों की प्रीति का सम्बन्ध देखा जाता है, भगवान् के साथ भक्त की उतने ही प्रकारो की प्रीति का सम्बन्ध स्थापित हो

सकता है। अपनी रुचि और संस्कार के अनुसार भक्त भाव-विशेष का आश्रय ग्रहण कर इष्ट की आराधना में रत रहते हैं। किसी एक भाव का मुख्य रूप से आश्रय ग्रहण करने पर भी भक्त के हृदय में अन्य एकाधिक भावों का प्रकाश हो सकता है, होता भी है। और, श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीरामकृष्णदेव आदि जो सब युगाचार्य स्वयं धर्म का आचरण कर दूसरों को शिक्षा देने के लिए आविर्भूत होते हैं, उन लोगों के जीवन में इन सभी भावों का विकास देखा जाता है। पौराणिक युग एवं परवर्ती काल के भारत और विदेशों के भक्तों की जीवनी का अवलोकन करने पर हमलोग इन सब विभिन्न आसक्तियों का उदाहरण पायेंगे। यहाँ विभिन्न भावों में आसक्त पौराणिक युग के भक्तों के मात्र नामों का उल्लेख किया जाता है।

गुणमाहात्म्यासक्त—नारद, वेदव्यास। रूपासक्त—व्रज के नरनारी। पूजासक्त—अम्बरीष, पृथु। स्मरणासक्त—प्रह्लाद। दास्यासक्त—हनुमान्। सख्यासक्त—उद्धव, अर्जुन, श्रीराम। कान्तासक्त—रुक्मिणी, सत्यभामा। वात्सल्यासक्त—कौशल्या, दशरथ, यशोदा, नन्द। आत्मनिवेदनासक्त—बलि, विभीषण। तन्मयासक्त—सनत्कुमार, शुकदेव। परमविरहासक्त—व्रज की गोपियाँ।

"राम को जानने के लिए सीता की भाँति होना होगा। पुरुष को जानने के लिए सखीभाव, दासीभाव, मातृभाव, इन सब प्रकृतिभावों का आश्रय लेना होगा। स्वयं में पुरुष-भाव का बोध नहीं रहता। चूँकि मीराबाई नारी थी अतः रूप गोस्वामी ने उनसे मिलना नहीं चाहा। मीराबाई ने कहला भेजा, 'श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं, वृन्दावन में सब कोई उसी पुरुष की दासी हैं। गोस्वामी को पुरुष होने का अभिमान करना क्या ठीक हुआ है ?'"

इत्येव वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमता कुमार-व्यास-शुक-शाण्डिल्य गर्ग-विष्णु - कौण्डिन्य-शेषोद्धव - वारुणि - बलि-हनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्या ॥८३॥

कुमार विभीषणादय भक्त्याचार्या (सनत्कुमार व्यासदेव शुकदेव शाण्डिल्य गर्ग विष्णु कौण्डिन्य शेष उद्धव वारुणि बलि हनुमान् विभीषण आदि भक्ति-साधना के आचार्यों ने) जनजल्पनिर्भया (लोक निन्दा को ग्रहण नहीं कर) एकमता (भक्ति के स्वरूप, साधन एव फल के विषय मे एकमत होकर) एति एव वदन्ति (इसी प्रकार कहा है) ॥८३

सनत्कुमार व्यासदेव शुकदेव शाण्डिल्य गर्ग विष्णु कौण्डिन्य शेष उद्धव वारुणि बलि हनुमान् विभीषण आदि भक्तिशास्त्र के आचार्यों ने लोक-निन्दा को अस्वीकार कर एव एकमत होकर भक्तिशास्त्र की इसी प्रकार की व्याख्या की है ॥८३

इस सूत्र मे देवर्षि नारद स्वय किसी नये मत का प्रचार नही कर रहे हैं, किन्तु अपने पूर्व के श्रेष्ठ भक्तो की शिक्षा और आचरण के द्वारा उनके मत का समर्थन हुआ है, यही कहते हैं। एकान्ती भक्तगण लोकमत की अपेक्षा नही करते। हृदय मे वे जो अनुभव करते हैं उसका निर्भय होकर जन समाज मे प्रचार कर जाते हैं। उन लोगो की श्रद्धा और विश्वास की तीव्रता को देखकर दूसरे लोग भगवान् की ओर आकृष्ट होते हैं।

जिन सब आचार्यों के नाम इस सूत्र मे उल्लिखित हुए ह वे सब अपने आचरण और शिक्षा द्वारा ससार में भक्ति के आदर्श का प्रचार कर गये हैं। इनमे से किन्हीं-किन्ही ने ग्रथादि की रचना की हैं। किन्ही-किन्हीं के पुण्य चरित्र की कथा अन्य भक्त लेखको के द्वारा लिपिबद्ध हुई है। फिर, किन्हीं-किन्ही का परिचय भी मिलना अब कठिन हो गया है।

कुमार का तात्पर्य है सनत्कुमार, ब्रह्मा के मानसपुत्र, और देवर्षि नारद के भी गुरु। व्यासदेव ने स्वरचित विभिन्न ग्रन्थो मे भक्ति-तत्व और भक्ति-साधना का विस्तृत वर्णन किया है। शुकदेव के श्रीमुख से श्रीमद्-

भागवत् का श्रवणकर महाराज परीक्षित ने परमगति प्राप्त की थी। महर्षि शाण्डिल्य प्रणीत भक्ति-मीमांसा नामक सूत्र ग्रंथ भक्त समाज का विशेष उपजीव्य है। महर्षि गर्ग ने भगवान् श्रीकृष्ण का नामकरण किया था। वे गर्ग संहिता के रचयिता हैं। 'विष्णु' कहकर स्वय नारायण या संहिताकार विष्णु ऋषि या अन्य किसी आचार्य को श्रीनारद ने लक्ष्य किया है, यह कहना कठिन है। कौण्डिन्य का कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। कहा जाता है कि शेष या अनन्तनाग अपने सहस्रमुख से दिनरात हरि का गुणगान करते रहते हैं। भ्रातृप्रेम के आदर्श लक्ष्मण शेष के अवतार थे। भ्रातृभाव और दासभाव से उन्होंने आजीवन भगवान श्रीरामचन्द्र की सेवा की थी। महाभक्त उद्धव श्रीकृष्ण के सखा थे। वारुणि के सम्बन्ध में कोई परिचय नही मिलता। दैत्यराज बलि की भक्ति के प्रभाव से भगवान ने उनका द्वारपाल होना स्वीकार किया था। हनुमान् कोई साधारण वानर नही थे। वे वेदादि शास्त्रों के महापण्डित थे। ऐसा वाल्मीकि रामायण में कहा गया है। हनुमान् और विभीषण की दास्यभक्ति की महिमा रामायण के पाठ से जानी जा सकती है।

श्रीरामकृष्णदेव विजय गोस्वामी से कहते हैं, "भगवान की शरणागत होकर लज्जा और भय इन सबका त्याग करो। मै हरिनाम लेकर यदि नाचूं तो लोग मुझे क्या कहेंगे—इन सब भावो का त्याग करो।"

डाक्टर महेन्द्रनाथ सरकार को उन्होंने कहा :— "लज्जा का परित्याग कर सर्वदा ईश्वर का नाम लेना। इसमें फिर लज्जा क्या? लज्जा घृणा भय तीनों के रहने से नही होगा (ईश्वर लाभ नही होगा)। मैं इतना बड़ा आदमी हूँ, मैं हरि-हर कहकर नाचूंगा? बड़े-बड़े लोग यह बात सुनकर मुझे क्या कहेंगे? इन सब भावों का त्याग करो।"

...."जो हरिनाम में मस्त होकर नृत्यगीत नहीं कर पाते उनलोगों का किसी काल में (भगवान-लाभ) नही होगा। ईश्वर के विषय में लज्जा क्या, भय क्या!"

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते
स भक्तिमान् भवति स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति ॥ ८४ ॥

य (जो) नारदप्रोक्त (नारद के द्वारा कही गयी) इदं शिवानुशासनं (इस मंगलदायक शिक्षा में) विश्वसिति (विश्वास करते हैं) [एवं] श्रद्धत्ते (श्रद्धा पूर्वक अनुशीलन करते हैं) स (वे) भक्तिमान् भवति (भक्ति प्राप्त करते हैं) स (वे) प्रेष्ठं (प्रियतम को) लभते (प्राप्त करते हैं) स (वे) प्रेष्ठं (प्रियतम को) लभत (प्राप्त करते हैं) इति ॥ ८४

जो नारद द्वारा कही गई इस मंगलमयी शिक्षा में विश्वास करते हैं तथा श्रद्धापूर्वक इसका अनुशीलन करते हैं, वे निश्चय ही भक्ति एवं प्रियतम को प्राप्त करते हैं ॥ ८४

इस सूत्र में देवर्षि नारद अपने मूल वक्तव्य का सार कुछ थोड़ी बातों के द्वारा निपुणता पूर्वक वर्णनकर इस ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं। उनके इस शिवानुशासन के मंगलमय उपदेश के अधिकारी वे हैं, वे ही इस उपदेश के अनुसार चलकर लाभवान् होंगे, जो विश्वासी और श्रद्धावान् हैं। देवर्षि ने पहले ही कहा है कि भक्तों के बीच जाति, कुल और विद्या या वय का भेद नहीं होता। उपसंहार में 'जो श्रद्धा और विश्वास करते हैं वे ही प्राप्त करते हैं' कहकर उस सिद्धान्त का उन्होंने समर्थन किया है। हमलोगों के जीवन में लक्ष्य पर पहुँचने के पाथेय हैं विश्वास और श्रद्धा। गुरु के वचन और शास्त्र के वचन में यदि हमलोग विश्वास स्थापित नहीं करें पग-पग पर यदि संदेह उपस्थित हो, तो लक्ष्य की ओर अग्रसर होना संभव नहीं होता। फिर केवल विश्वास रहने से ही नहीं हुआ। सिद्धान्तों को केवल मान लेने से ही काम नहीं चलता। केवल विश्वास का मूल्य अवसर सुग्गे के द्वारा राम नाम लेने के समान होना देखा जाता है। सिखायी-पढ़ायी बातों को सुग्गा सहज अवस्था में अच्छी तरह बोलता रहता है, परन्तु बिल्ली के द्वारा पकड़ लिए जाने पर वह टें-टें करने लगता है। उसके मुंह से और राम नाम नहीं निकलता। इसीमें विश्वास के साथ चाहिए श्रद्धा। श्रद्धा रहने पर ही मनुष्य समस्त आपदा-विपदाओं को अग्राह्यकर दृढ़ पग से लक्ष्य की ओर अग्रसर हो पाता है। श्रद्धा के

बल में बलिष्ठ होकर ही नचिकेता ने यम के भवन में जाने का साहस किया था। श्रद्धा ने ही नचिकेता को यम ने सत्य-लाभ कर कृतार्थ होने का अधिकारी बनाया था। जो भक्त विश्वासी होते हैं, और विश्वास को कार्य में परिणत करने में उपयोगी श्रद्धा जिनके हृदय में आविर्भूत होती है, उनकी साधना सिद्ध होती है, तथा वे प्रियतम को प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं। ईश्वर हमलोगों के प्रियतम हैं, ईश्वर की प्राप्ति ही हमलोगों के जीवन का लक्ष्य है। श्रुति कहती है, '**तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयः वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा**' (बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।८)—आत्मा पुत्र से प्रिय, धन से प्रिय, अन्य समस्त प्रियों से प्रियतर एवं सबकी अपेक्षा प्रियतम है।' प्रियतम को पाने के लिए भक्त के हृदय से जब आकुल प्रार्थना उत्पन्न होती है तब वे ईश्वर भक्त के समक्ष आत्मप्रकाश किए बिना और रह नहीं पाते। '**तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्**' (कठ उपनिषद्—१।२।२३)

"विश्वास से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है। ईश्वर से 'मुझे भक्ति दो, विश्वास दो, कहकर प्रार्थना करनी होगी। विश्वास हो जाने से ही हो गया। सरल विश्वास, बालक की तरह विश्वास नहीं होने पर भगवान् को नहीं पाया जा सकता।"

"ये ही मेरे इष्ट हैं' यह सोलह आना विश्वास यदि रहे, तो ईश्वर की प्राप्ति होती है, दर्शन होता है। 'उनकी कृपा से इस जन्म में ही उन्हें पाऊँगा, 'अभी पाऊँगा' मन में इस प्रकार का बल रखना होगा, विश्वास रखना होगा। ऐसा नहीं होने पर क्या होगा?"

"कर्म करने के पहले विश्वास चाहिए। उसके साथ ही मन में वस्तु के चिंतन से आनन्द होता है। तब उस कार्य में प्रवृत्ति होती है। मैंने देखा है—साधु गांजा तैयार कर रहा है—और तैयार करते-करते ही उसे आनन्द मिलता है। मिट्टी के नीचे कलश में सोना है—यह ज्ञान, यह विश्वास पहले चाहिए। मन में सोने के चिंतन से ही आनन्द होता है। तब खोदता है। खोदते-खोदते 'टं' की ध्वनि होने से आनन्द और भी बढ़ जाता है। फिर जब सोना को थोड़ा देख पाता है तब आनन्द से नाचता रहता है।

अंत में कलश को बाहर निकालकर हाथ में मोहर लेकर गिनना है,—और खूब आनन्द प्राप्त करता है। दर्शन-स्पर्शन-सम्भोग।'

"एक ब्राह्मण के घर में भगवान की सेवा होती थी। एक दिन ब्राह्मण को कहीं अन्यत्र जाना था। जाने के समय ब्राह्मण अपने छोटे लड़के को कहकर गया, 'तुम आज भगवान को भोग देना भगवान को खिलाना।' लड़के ने भगवान को भोग दिया। लेकिन भगवान चुप बैठे हैं, बात भी नहीं करते हैं, खाते भी नहीं हैं। बहुत देर तक बैठे-बैठे लड़के ने देखा कि भगवान् उठते नहीं हैं। तब वह बार-बार कहने लगा, भगवान्, खाओ, बहुत देर हो गयी, मैं और अधिक बैठ नहीं पाता हूँ।' भगवान् बात नहीं करते हैं, तब लड़के ने रोना शुरू किया। कहने लगा, 'ठाकुर, पिताजी तुम्हें खिलाने के लिए कह गये हैं। तुम क्यों नहीं मेरे निकट खाओगे?' व्याकुल होकर जैसे ही थोड़ी देर रोता है, वैसे ही भगवान् हँसते-हँसते आकर आसन पर बैठकर खाने लगे। भगवान् को भोजन कराकर ठाकुर-घर से जब वह गया, घर के लोगों ने कहा, 'भोग हो गया है, वह सब ले आओ।' लड़के ने कहा, 'हाँ, हो गया है, भगवान् भोजन कर गये हैं।' उन लोगों ने कहा, यह क्या रे?' लड़के ने सरल बुद्धि से कहा, 'क्यों, भगवान् तो खा गये हैं।' तब ठाकुर घर में जाकर देखकर सब अवाक् हो गये।'

"ईश्वर की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। व्याकुल होकर ईश्वर का ढूंढने पर उनका दर्शन होता है, उनके साथ सम्भाषण होता है, बातचीत होती है, जैसे मैं तुम लोगों के साथ बातें करता हूँ। सच कहता हूँ, दर्शन होता है।"

—समाप्त—